तृतीय खण्डः
प्रातिशाख्यः भाग एक

खण्ड तीन का परिचय

वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की पद्धति को सुरक्षित करने के लिए सर्वप्रथम शास्त्र के रूप में प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित ग्रन्थ होने के कारण इन्हें अन्वर्थ संज्ञा प्रातिशाख्य के नाम से जाना जाने लगा। यहाँ इस इकाई में प्रातिशाख्य का अर्थ प्रयोजन एवं शाखागत प्रातिशाख्यों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। व्याकरण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन करने वाले पहले ग्रन्थ् प्रातिशाख्य हैं । वेदों की शाखा से सम्बन्धित व्याकरण के नियमों का संकलन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में किया गया हैं । वे ग्रन्थ जिनका प्रणयन वैदिक मन्त्रों को अक्षुण्ण रखने के लिए किया गया वे शास्त्र प्रातिशाख्य की संज्ञा से अभिहित है ।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों के द्वारा वैदिक पदों का शुद्ध रूप एवं उच्चारण का ज्ञान सम्पादित किया जाता हैं।

प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति द्विधा की जा सकती है- शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखं, प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम्। अर्थात् वेद की किसी एक शाखा विशेष से सम्बयन्धित होने के कारण प्रातिशाख्य कहा जाता है।

उपर्युक्त निरुक्ति आचार्य माधव एवं अनन्त द्वारा स्वीकृत है।

इस खण्ड का वर्णन प्रातिशाख्यों के वर्णन के भाग 1 के क्रम में आता है। इसमें आप ऋग्वेद के प्रातिशाख्य के अनुसार संज्ञा, यास्क का निर्वाचन सम्बगन्धी् सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त करते हुए ,परिभाषाओं, वैदिक स्वरों तथा विभिन्न सन्धियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। इस प्रकार प्रथम चरण के वर्णन से आप उक्त तथ्यों का अध्ययन करके इनकी व्याख्या करने, इनका वर्णन करने और इन्हें समझाने में सक्षम हो सकेंगे ।

इकाई 1 प्रातिशाख्यों का अर्थ, प्रयोजन एवं शाखागत प्रातिशाख्यों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 प्रातिशाख्य का अर्थ

1.3 प्रातिशाख्य का प्रयोजन

1.4 प्रातिशाख्यों का परिचय

- 1.4.1 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
- 1.4.2 तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
- 1.4.3 वाजसनेयि प्रातिशाख्य
- 1.4.4 चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य
- 1.4.4 सामतन्त्र प्रातिशाख्य
- 1.4.6 अथर्वप्रातिशाख्य

1.4 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.8 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- प्रातिशाख्य ग्रन्थों के मौलिक स्वरूप तथा परिचयात्मक जानकारी से लाभान्वित हो पाएंगे।
- प्रातिशाख्य शास्त्र की उत्पत्ति सम्बन्ध विषय और प्रयोजन के विषय में जानकारी आप कर पाएंगे।
- अध्येतृगण वैदिक वाङ्गमय में प्रातिशाख्य की भूमिका से अवगत हो पाएंगे।
- विविध शाखाओं के प्रातिशाख्यों का परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।
- वैदिक व्याकरण एवं लौकिक व्याकरण के विषय में तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से प्रवृत्त हो पाएंगे।

1.1 प्रस्तावना

सर्वज्ञानमयो हि सः विश्व साहित्य में उपलब्ध ज्ञान राशि के सर्वप्राचीनतम स्रोत वेद ही हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। वेद शब्द मुख्य रूप से ज्ञानार्थक विद् धातु से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है।

अतः वेद शब्द का अर्थ हुआ ज्ञानराशि। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में भी वेद ही उपलब्ध है। वेद चार है, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का अलौकिक उपाय जिनके द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है वही वेद है- इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः।।

वेद असीमित ज्ञान के भण्डार हैं, मानव जाति का इतिहास, भारतीय संस्कृति एवं विविध वैज्ञानिक प्रयोग तथा भाषा विज्ञान आदि विषय में मौलिक जानकारी के लिए वेदों का अध्ययन परिशीलन चिन्तन नितांत अपेक्षित हो जाता है।

वेदों को श्रुति शब्द से भी जाना जाता है क्योंकि प्राचीन काल में आर्य गुरु मुख से मन्त्रों को श्रवण कर सुरक्षित रखते थे, परन्तु समयान्तराल से लोक भाषाएं व्यवहार में प्रचलित हुई जिससे संहितात्मक वैदिक मन्त्रों की भाषा व्यवहार से दूर होती गई जिसके फलस्वरूप वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण स्वर मात्रा सन्धि छन्द आदि के नियमों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी क्रम में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की पद्धति को सुरक्षित करने के लिए सर्वप्रथम शास्त्र के रूप में प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित ग्रन्थ होने के कारण इन्हें अन्वर्थ संज्ञा प्रातिशाख्य के नाम से जाना जाने लगा। यहाँ इस इकाई में प्रातिशाख्य का अर्थ प्रयोजन एवं शाखागत प्रातिशाख्यों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.2 प्रातिशाख्य का अर्थ

व्याकरण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन करने वाले पहले ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं। वेदों की शाखा से सम्बन्धित व्याकरण के नियमों का सङ्कलन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में किया गया हैं। वे ग्रन्थ जिनका प्रणयन वैदिक मन्त्रों को अक्षुण्ण रखने के लिए किया गया वे शास्त्र प्रातिशाख्य की संज्ञा से अभिहित है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों के द्वारा वैदिक पदों का शुद्ध रूप एवं उच्चारण का ज्ञान सम्पादित किया जाता हैं।

प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है- **शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखं, प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम्।** अर्थात् वेद की किसी एक शाखा विशेष से सम्बन्धित होने के कारण प्रातिशाख्य कहा जाता है।

उपर्युक्त निरुक्ति आचार्य माधव एवं अनन्त द्वारा स्वीकृत है। यहाँ कदाचित् यह शङ्का हो सकती है कि वेद की एक शाखा विशेष से सम्बन्धित होने के कारण जितनी शाखाएं उतने ही प्रातिशाख्य होंगे, परन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में किसी एक

शाखा विशेष के नियम निर्दिष्ट नहीं है, अपितु एक चरण की समस्त शाखाओं से सम्बन्धित नियमों का निर्देश किया गया है। यह समाधान निरुक्तकार के द्वारा भी सम्पुष्ट होता है - **पदं प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।1** यहाँ नियुक्तकार का आशय यह है कि पदों को प्रकृति मानकर सभी चरणों के प्रातिशाख्यों द्वारा प्रकृति विषयक विधान किया जाता है। अतः प्रातिशाख्य प्रात्येक शाखा से संपृक्त ना होकर प्रत्येक चरण की समस्त शाखा से सम्बन्धित है यह सिद्ध हुआ।

प्रातिशाख्य शब्द की एक और व्युत्पत्ति की जा सकती है - **शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखं प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्"** इस निरुक्ति के अनुसार प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की अनेक शाखाओं से परिपुष्ट होता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने भी इस व्युत्पत्ति का अपने ग्रन्थ में उल्लेख करते हुए प्रातिशाख्य शब्द को चरणवाची स्वीकार किया है अर्थात् प्रातिशाख्य शब्द वेद के एक चरण से सम्बन्धित है।2 इसी प्रसङ्ग में भाष्यकार अनन्त भी वाजसनेयि प्रातिशाख्य को काण्व आदि पन्दरह शाखाओं के ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं- **तस्मात् सिद्धं काण्वादि पञ्चदशशाखासु एकमेव प्रातिशाख्यमिति।3**

उपर्युक्त सभी प्रमाण प्रातिशाख्य शब्द को प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित नहीं अपितु एक चरण में समागत समस्त शाखा से सम्बन्धित होना सुनिश्चित करते हैं।

निरुक्तकार दुर्गाचार्य पार्षद शब्द को प्रातिशाख्य के पर्याय के रूप में परिभाषित करते हैं। पार्षद शब्द परिषद् से सम्बन्धित अर्थ का बोधक है। पूरे वर्ष भर में शास्त्र विषयक चर्चा गोष्ठियों के माध्यम से सम्पन्न होती थी। वेद विषयक परिषदों में समान चरण वाली शाखाओं का अध्ययन करने वाले सम्मिलित होकर उन शाखाओं के विषय में चर्चा करते थे, यह अध्ययन गोष्ठियों के माध्यम से होता था, इस प्रकार पार्षद शब्द प्रातिशाख्य का पर्याय बन गया।4

दुर्ग आचार्य इस विषय को उपस्थापित करते हुए निरूक्त भाष्य में लिखते हैं –

स्वचरणपरिषद्येव यैः प्रातिशाख्यानियतमेव
पदावग्रहप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते तानीमानि पार्षदानि
प्रातिशाख्यानीत्यर्थः[5]**।**

अर्थात् अपने चरण के अध्येतृगण की परिषदों में चरण के प्रत्येक शाखा पाठ में नियमित पदावग्रह प्रगृह्य क्रमपाठ, संहिता पाठ और स्वर के लक्षणों को कहा जाता है।

इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ पार्षद अर्थात् प्रातिशाख्य कहलाते हैं। पार्षद शब्द पूर्णत: शौनक कृत ऋग्वेद प्रातिशाख्य का पारिचायक है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रातिशाख्य का अर्थ प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित नहीं मानकर एक चरण से सम्बन्धित सभी शाखाओं के विषय में स्वीकार करने पर **शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखं, प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम्**

[1] निरूक्त 1/17

[2] संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृष्ठ संख्या 85

[3] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 1/1

[4] ऋक प्रा. एवं वा.प्रा. का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनिशिक्षा के सन्दर्भ में

[5] निरूक्त 1/7 दुर्गाचार्य

इस व्युत्पत्ति की संगति **प्रतिवृक्षं विद्योतते विद्युत्"** इस दृष्टान्त के अनुसार समझनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि विद्युत के एक होते हुए भी प्रत्येक वृक्ष पर चमकना जैसे संगत है उसी प्रकार एक चरण से सम्बन्धित सभी शाखा विषयक प्रातिशाख्य ग्रन्थों की अनेक शाखाओं के साथ संगति निर्बाधित बन सकती है।

चरण शब्द वेद की एक विधा का बोधक है। चरण व्यूह के भाष्यकार महीदास ने वेदों के चार विभाग ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, चरण बताए हैं, अर्थात् ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद ये वेद के चार चरण है- वेदराशे: चतुर्विभागाच्चरण उच्यते।6

प्रत्येक चरण की (वेद की) समस्त शाखाओं से सम्बन्धित ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहलाते हैं । प्रत्येक चरण की अनेक शाखाएं हैं प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध में इनमें किसी भी चरण की एक किसी भी शाखा से हो सकता है । इस प्रकार प्रातिशाख्य का सटीक अर्थ **"वेद की शाखा विशेष से सम्बन्धित"** यह होता है।

1.3 प्रातिशाख्य का प्रयोजन

"प्रयोजनमनुद्दिष्य मन्दोपि न प्रवर्तते" इस प्रसिद्धि के अनुसार बिना प्रयोजन के कोई भी किसी कार्य में प्रवेश नहीं होता है, इसीलिए प्रयोजन को अनुबन्ध चतुष्टय में स्थान दिया गया है। बिना प्रयोजन बताए शास्त्र ग्राह्य नहीं होता है इसलिए किसी भी शास्त्र अथवा किसी कार्य का प्रयोजन जब तक नहीं बताया जाता तब तक उस ग्रन्थ या कार्य में कौन प्रवृत्त होगा या ग्रहण करेगा?

इस प्रसङ्ग में प्रयोजन की आवश्यकता के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है -

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् केन गृह्यताम् ।।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी प्रातिशाख्य के प्रयोजन को वर्णदोषविवेकार्थम्।7 इस सूत्र से अभिव्यक्त किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वर्णों के दोषों के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

निश्चित ही वेदों के पद क्रम, संहिता क्रम आदि अक्षुण्ण रहे इसीलिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई है।

वैदिक पदों का शुद्ध रूप एवं उन पदों में प्रयुक्त वर्णों के शुद्ध उच्चारण का ज्ञान तथा वर्णों के दोषों का पृथक् करण प्रातिशाख्य ग्रन्थों के द्वारा ही सम्भव है।

पदों एवं वर्णों के उच्चारण को सुरक्षित करने के लिए प्रातिशाख्यों का आविर्भाव हुआ।

भाष्यकार उव्वट भी प्रातिशाख्यों के प्रयोजन का उल्लेख इस प्रकार करते हैं-

---

[6] चरणव्यूह 1/1

[7] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 1/6

जपादौ नाधिकारोस्ति सम्यक् पाठमजानत।
प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयः सम्यक् पाठस्य सिद्धये।।[8]

तात्पर्य यह है कि वाजसनेयि प्रातिशाख्य के भाष्य में उव्वट प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रयोजन बतलाते हैं कि वेद का अध्ययन करने वाले जब तक वेद पाठ को अच्छी प्रकार से नहीं जानेंगे तब तक उन वेदाध्येतृ समुदाय को जप आदि क्रियाओं में अधिकार प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वेद पाठ को भलीभांति प्रकार से वर्ण वोष, उच्चारण आदि के ज्ञानार्थ प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन नितांत अपेक्षित है।

यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि वेदों के सभी शाखाओं से सम्बन्धित नियम यद्यपि शिक्षा, छन्द, व्याकरण आदि वेदाङ्गो के द्वारा सामान्य रूप से विहित हैं तथापि प्रातिशाख्यों में केवल तत्तत् शाखा सम्बन्धित नियमों का एकत्र विधान प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणार्थ व्याकरण शास्त्र में प्रतिपादित सामान्य नियम– ऋचितुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्।

इस व्यवस्था से शाखा विशेष से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान के लिए सुलभता हो जाती है। इसी तथ्य को भाष्य के मूल में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्त लक्षणम् तेदवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्।

उपर्युक्त भाष्यकार द्वारा परिलक्षित प्रातिशाख्य प्रयोजन ऋग्वेद प्रातिशाख्य के विषय में ही पूर्णत: संघटित होता है।

शिक्षा, छन्द, व्याकरण शास्त्र के द्वारा जो वेदों के सम्बन्ध में सभी शाखा विषयक सामान्य लक्षण उक्त हैं उन्हीं नियमों को प्रातिशाख्य विशेष के द्वारा सम्बन्धित चरण विषयक शाखाओं में व्यवस्थित किया गया है । यही प्रातिशाख्य का प्रयोजन है।

इस पाणिनि सूत्र का अर्थ यह है कि ऋचाओं में तु नु घ मक्षु तङ् कुत्र तथा उरुष्य ये पद व्यञ्जन वर्ण बाद में हो तो दीर्घ हो जाते हैं यह सामान्य नियम है जैसे- आ तु न इन्द्रवृत्रहन्।

इस व्याकरण शास्त्रीय नियम के विषय में ऋग्वेद प्रातिशाख्य में व्यवस्था की गई है कि ऋग्वेद की शाखा में सूत्र में कहे गए पद सभी जगह दीर्घ नहीं होते हैं।

यथा- **तत्तु पयः प्रत्नथा ते शुशुक्नवम्।** प्रातिशाख्य नियमानुसार यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

छन्द शास्त्र में आचार्य पिङ्गल के द्वारा प्रतिपादित सामान्य नियम इस प्रकार देखा जा सकता है-

जैसे- पिङ्गल के छन्दः सूत्र के अनुसार 76 अक्षरों की 'अतिधृति' होती है । उसी प्रकार वहीं पर कहा गया है 'इय्' इत्यादि से चरण की पूर्ति कर लेनी चाहिए । इस प्रकार आचार्य पिङ्गल के द्वारा सामान्य नियम होने पर **"स हि सर्घों न मारुतम्"** इस 68 अक्षरों और आठ पादों वाली अतिछन्दस्क ऋचा के विषय में सन्देह होता है क्या पादों के अक्षरों को बिना तोड़े अविकर्षेण यह 68 अक्षरों वाली 'अत्यष्टि' है अथवा अक्षरों को तोड़ने पर विकर्षेण यह 76 अक्षरों वाली 'अतिवृति' है ?

यह सन्देह होने पर इस प्रातिशाख्य के द्वारा यह विशेष लक्षण आरम्भ किया जाता है-

[8] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 1/1

"सखे सखायमभ्या ववृत्स्व" और **"स हि सर्घो न मारुतम्"** इन ऋचाओं मध्यम वर्ग कहा जाता है जिससे यह ऋचा 76 अक्षरों की हो जाती है। इस प्रकार इस शैशिरीय नामक शाखा में पादों के अक्षरों को तोड़ने पर यह 'अतिधृति' है।

इसी प्रकार शिक्षा वेदाङ्ग का भी सामान्य नियम देखा जा सकता है-

शिक्षा वेदाङ्ग के द्वारा जो सामान्य नियम से कहा गया लक्षण है जैसे- शिक्षा में-"ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार मूर्धन्य है सभी शाखाओं में रेफ को सामान्य रूप से 'मूर्धन्य' कहा गया है। उसी प्रकार अन्य शिक्षा में- रेफ 'दन्तमूलीय' है इस आशय के सूत्र से रेफ को दन्तमूलीय कहा गया है। इस प्रकार सभी शिक्षा ग्रन्थ वर्णों के उच्चारण स्थान आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न आदि का सभी शाखाओं में विधान करते हैं; किन्तु विशिष्ट रूप से शिक्षा यह विधान नहीं करती है कि किस शाखा में रेफ 'मूर्धन्य' होता है और किस शाखा में 'दन्तमूलीय' होता है। इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था करने वाला अर्थात् इस प्रकार के विशिष्ट विधानों के लिए प्रातिशाख्य शास्त्र का आरम्भ किया जाता है- तवर्ग 'दन्तमूलीय' है, "सकार, रेफ और लकार भी दन्तमूलीय" हैं और कुछ आचार्य रेफ को बर्स्व से उच्चरित होने वाला स्वीकार करते हैं। प्रकार इस शाकल शाखा की शैशिरीय नामक उपशाखा में रेफ 'दन्तमूलीय' एवं मतान्तर में बर्स्व्य है यह निश्चय किया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य शास्त्र शिक्षा, छन्द, व्याकरण आदि के द्वारा जिन नियमों का विधान नही किया गया है उनकी व्यवस्था सम्पादित करता है न कि विशेष व्यवस्था। अथर्ववेद प्रातिशाख्य में भी प्रयोजन वर्णन करने वाला **एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन** यह सूत्र द्रष्टव्य है इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य लक्षण के द्वारा जो विकल्प से प्राप्त होता है वही इस शाखा में व्यवस्थित हो जाता है यह प्रातिशाख्य का प्रयोजन कहा गया है।

यह प्रातिशाख्य प्रयोजन प्रसङ्ग ऋग्वेद प्रातिशाख्य के संज्ञा परिभाषा पटल मूल में इस प्रकार निर्दिष्ट है-

एवं शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैर्यत्सर्वासु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते तदेवास्यां शाखायामनेन व्यवस्थाप्यत इत्येतत्प्रयोजनमस्याङ्गस्य। तथा चाथर्वणप्रातिशाख्य इदमेव प्रयोजनमुक्तम् "एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन अस्य सूत्रस्यायमर्थः

सामान्येन लक्षणेन यद् विकल्पप्राप्तं तदेवमस्यां शाखायां व्यवस्थितं भवतीति प्रातिशाख्यप्रयोजनमुक्तम्।

इस प्रकार प्रातिशाख्य ग्रन्थों का भी सप्रयोजन होना सिद्ध हुआ।

1.4 प्रातिशाख्यों का परिचय

प्रातिशाख्यों मैं वर्तमान में प्रमुखतया छः प्रातिशाख्य उपलब्ध है

इन उपलब्ध प्रातिशाख्यों वर्तमान में प्रमुखतया के विषय में भी विद्वानों के मतभेद हैं ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, वानसनेयि-प्रातिशाख्य, चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य।

रामनाथ दीक्षित के अनुसार ऋक्तंत्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, पुष्प सूत्र, ये सामवेद के चार

प्रातिशाख्य हैं।

प्रातिशाख्यों के विषय में युधिष्ठिर मीमांसक ने आश्वलायन प्रातिशाख्य, वाष्कल-प्रातिशाख्य शाङ्खायन प्रातिशाख्य के विद्यमानता के संकेत दिए हैं। मुख्य रूप से प्राप्त छः प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1.4.1 ऋग्वेद-प्रातिशाख्य

ऋग्वेद प्रातिशाख्प उपलब्ध प्रातिशाख्य शास्त्रों में विशालतम विवेच्य विषय की दृष्टि से विशालतम सर्वातिशय महत्त्वपूर्ण भी है। इसके रचनाकार आचार्य शौनक हैं। इस प्रातिशाख्प का सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकल शाखा से है। यह प्रातिशाख्य तीन अध्यायों तथा अठारह पटलों में विभक्त है। इसमें 429 कारिकाएँ एवं 1067 सूत्र हैं।

ऋग्वेद प्रातिशाख्प की प्राचीन टीकाएं उव्वट भाष्य (पार्षद व्याख्या), पार्षद वृत्ति, विष्णुमित्र कृत वर्गद्वय वृत्ति हैं।

प्रमुख रूप से ऋग्वेद प्रातिशाख्य शास्त्र में मुख्य रूप से वर्ण विचार पद विचार सन्धि स्वर छन्द विवेचन वेदाध्ययन क्रम पाठ आदि विचार वर्णित हैं।

इसमें आचार्य शौनक ने **सामान्य सूत्र अपवाद सूत्र तथा निपातन सूत्र इन तीन प्रकार** के सूत्रों का प्रयोग किया है काशी हिंदू विश्वविद्यालय से वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने इस प्रातिशाख्य का उत्कृष्ट संस्करण प्रकाशित करवाया है।9

1.4.2 तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

इस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है श्लोक रूप में लिखित यह शास्त्र दो प्रश्नों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रश्न में 12 - 12 अध्याय हैं इस प्रकार कुल 24 अध्याय एवं 447 सूत्र है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्रमुख रूप से वर्ण उच्चारण, अक्षर विभाजन और स्वर, संज्ञा, परिभाषा आदि वर्णित हैं।

इसमें वर्ण उच्चारण एवं वर्ण विषयक सूक्ष्म वैज्ञानिक रीति सें विशद विवेचन हुआ है इसलिए ध्वनि विज्ञान के क्षेत्र में इसका विशिष्ट महत्त्व है।

1.4.3 वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

वाजसनेयि प्रातिशाख्य का सम्बन्ध शुक्ल यजु: चरण की शाखाओं से है। प्रमुख रूप से यह माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित है। यह वाजसनेयि प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है तथा इसमें सूत्र संख्या लगभग 724-747 है।

इस प्रातिशाख्य में वर्ण-उच्चारण, सन्धि, स्वर, पद पाठ, क्रम पाठ, वेद पारायण आदि विषय वर्णित है इसके रचनाकार आचार्य कात्यायन हैं, जो महर्षि याज्ञवल्क्य के पुत्र तथा आचार्य शौनक के शिष्य थे।

---

[9] संस्कृत साहित्य का इतिहास उमाशंकर ऋषि पृष्ठ संख्या 90

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में जित्, मुत्, घि, सम्, आदि संज्ञाओं का प्रयोग प्राप्त होता है।

1.4.4 चतुरध्यायिका-प्रातिशाख्य

अथर्ववेद की शाखाओं से सम्बन्धित यह चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है इसीलिए इसको चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य कहते हैं। इस प्रातिशाख्य पर चतुरध्यायी नामक भाष्य भी है, जिसके अन्त में **"श्रीरस्तु लेखकपाठकयोः शुभं भवतु श्रीचंडिकायै नमः श्री रामसंवत् 1714 वर्षे ज्येष्ठ-शुक्ल-नवमी-दिने समाप्तं लिखितं पुस्तकम्"** ऐसा उल्लिखित है। इसमें स्वर सन्धि, पद पाठ, विषयक वर्णन प्राप्त होता है।

1.4.5 सामतन्त्र-प्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य शास्त्र सामवेद की शाखाओं से सम्बन्धित है। इसमें सामतन्त्र, पुष्पसूत्र, ऋक्-तन्त्र, ये तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

ऋक्-तन्त्र सामवेद के कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य है, इसके कर्ता कुछ विद्वानों के मत में शाकटायन है। तथा कुछ विद्वान औदव्रजि को मानते हैं। इसमें पाँच प्रपाठक तथा 287 सूत्र हैं।

1.4.6 अथर्वप्रातिशाख्य

यह अथर्ववेद से सम्बन्धित सूत्र रूप में उपनिबद्ध आकार की दृष्टि से अत्यन्त लघु प्रातिशाख्य है।यह विश्वबन्धु शास्त्री एवं सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित हैं। इसके दो पाठ प्राप्त होते हैं।10

इसमें तीन प्रपाठक हैं तथा सर्वाधिक स्वर विषयक विस्तार व सन्धि तथा पद पाठ आदि का विवेचन उपलब्ध होता है।

1.5 सारांश

- व्याकरण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन करने वाले पहले ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं। वेदों की शाखा से सम्बन्धित व्याकरण के नियमों का सङ्कलन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में किया गया हैं।
- चरण शब्द वेद की एक विधा का बोधक है।
- ऋग्वेद-प्रातिशाख्य तीन अध्यायों तथा अठारह पटलों में विभक्त है। इसमें 429 कारिकाएँ एवं 1067 सूत्र हैं। इसके रचनाकार आचार्य शौनक हैं।
- वाजसनेयि-प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है तथा इसमें सूत्र संख्या लगभग 724-747 है। इसके रचनाकार आचार्य कात्यायन है।
- तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रश्न में 12 - 12 अध्याय हैं इस प्रकार कुल 24 अध्याय एवं 447 सूत्र है।
- अथर्ववेद की शाखाओं से सम्बन्धित यह चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है।

[10] ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य का तुलनात्मक अध्ययन

1.6 शब्दावली

- **विशद** = विस्तार से
- **प्रयोजन** = कारण या हेतु
- **चरण** = वेद
- **पार्षद्** = परिषद् से

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित - बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1330, व्याख्याकार- वीरेंद्र कुमार वर्मा
- वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - (सम्पादक) वि. वेंकटराम शर्मा
- पाणिनिव्याकरणसूत्राष्टाध्यायी - चौखम्बा भारती अकादमी वाराणसी
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - (हिन्दी व्याख्याकार) गोपालदत्तपांडेय, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर ऋषि, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गौरेला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय
- ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - (शोधकर्ता) नेत्रा श्रीवास्तव

1.8 बोध प्रश्न

- प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रयोजन विस्तार से बताइए।
- ऋग्वेद प्रातिशाख्य के कर्ता कौन है तथा इसमें कितने पटल हैं ?
- प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
- जित्, मुत्, घि, सम्, आदि संज्ञाओं का विधान किस प्रातिशाख्य में है?

इकाई 2 ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार संज्ञाएं

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 ऋग्वेद प्रातिशाख्योक्त संज्ञाओं का ससूत्र विवरण

- 2.2.1 समानाक्षर संज्ञा
- 2.2.2 सन्ध्यक्षर संज्ञा
- 2.2.3 स्वर संज्ञा
- 2.2.4 अनुस्वार का स्वरूप
- 2.2.5 व्यञ्जन संज्ञा
- 2.2.6 स्पर्श संज्ञा
- 2.2.7 अन्तस्थ संज्ञा
- 2.2.8 ऊष्म संज्ञा
- 2.2.9 अघोष संज्ञा
- 2.2.10 सोष्म संज्ञा
- 2.2.11 अनुनासिक संज्ञा
- 2.2.12 हृस्व संज्ञा
- 2.2.13 दीर्घ संज्ञा
- 2.2.14 अक्षर संज्ञा
- 2.2.15 गुरु संज्ञा
- 2.2.16 रक्त संज्ञा
- 2.2.17 संयोग संज्ञा
- 2.2.18 वर्णस्थान संज्ञा
- 2.2.19 नामि संज्ञा
- 2.2.20 प्रगृह्य संज्ञा
- 2.2.21 रेफित संज्ञा

2.3 सारांश

2.4 शब्दावली

2.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.6 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- व्याकरण शास्त्र की लौकिक संज्ञाओं एवं वैदिक संज्ञाओं में अन्तर समझ पायेंगे।
- प्रातिशाख्योक्त संज्ञाओं के विषय में सुपरिचित हो पायेंगे।
- शास्त्रीय व्यवहार में संज्ञाओं की उपादेयता से अवगत हो पाएंगे।

2.1 प्रस्तावना

हम अपने विचारों का आदान-प्रदान सम्भाषण के द्वारा करते हैं, तथा अपने मनोभावों को सम्भाषण के द्वारा ही सहजतया जुड़कर परस्पर समझते हैं। इस सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार में व्यक्ति वस्तु स्थान विशेष को किसी नाम के द्वारा संबोधित कर कार्य सम्पादन किया जाता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी व्यवहार के लिए संज्ञाओं का विधान किया जाता है। इनमें कुछ अन्वर्थ संज्ञाएं होती है, कुछ कृत्रिम एवं परम्परागत संज्ञाएं भी होती हैं। संज्ञा शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा अवबोधनार्थक धातु से अङ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है चेतना, ज्ञान अथवा बुद्धि। शास्त्र में वर्ण या वर्ण समुदाय विशेष की कोई संज्ञा विधान करके शब्द शास्त्रीय व्यवहार सम्पादित किया जाता है। इसीलिए वैदिक व्याकरण से सम्बन्धित व्यवस्था सम्पादन के लिए सर्वप्रथम ऋग्वेद प्रातिशाख्य में संज्ञापरिभाषा पटल का उपस्थापन किया गया है।

2.2 ऋग्वेद प्रातिशाख्योक्त संज्ञाओं का ससूत्र विवरण

2.2.1 समानाक्षर संज्ञा

सूत्रम् - **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** 1।1

सूत्रार्थ - यह ऋग्वेद प्रातिशाख्य के संज्ञापरिभाषा पटल का प्रथम सूत्र है। जो छः प्रकार के सूत्रों में संज्ञा सूत्र की कोटि में आता है। सूत्र का सामान्यार्थ यह होगा कि वर्णसमाम्नाय के आदि में आठ अक्षर समानाक्षर हैं, अर्थात् अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ ये वर्ण समानाक्षर कहलाते हैं।

सूत्र के व्याख्यान पक्ष में विचार करने के लिए सूत्र के पदों पर दृष्टिपात करना पडेगा क्योंकि व्याख्यान षड्विध होता है।

> **पद्च्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्ययोजना।**
> **आक्षेपस्य समानाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम्॥**

वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थज्ञान कारण होता है, अतः सूत्रोक्त पदों का ज्ञान अपेक्षित है।

प्रकृत सूत्र में तीन पद हैं। अष्टौ संख्यावाचक प्रथमान्त, समानाक्षराणि भी प्रथमान्त संज्ञाबोधक पद है और आदितः पद पञ्चम्यन्त तसिल् प्रत्यान्त है जिसका अर्थ होगा प्रारम्भ से लेकर, सरलार्थ होगा कि वर्णमाला के आरम्भ से लेकर आठ वर्ण समानाक्षर कहे जाते हैं।

2.2.2 सन्ध्यक्षर संज्ञा

सूत्रम् - **ततश्चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि**[1]

सूत्रार्थ- तत्पश्चात् समानाक्षरों के बाद आगे वाले चार अक्षर सन्ध्यक्षर कहलाते हैं, अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ, ये चार वर्ण सन्ध्यक्षर हैं।

सरलार्थ यह होगा कि अकार की इकार, उकार, एकार, ऐकार के साथ सन्धि होने से निष्पन्न ए, ओ, ऐ, औ, ये चार वर्ण संन्ध्यक्षर संज्ञक होते हैं।

विशेष ज्ञातव्य - सूत्रस्थ ततः पद में पञ्चमी विभक्ति से ही समानाक्षरों के साथ आनन्तर्य सिद्ध है अतः उत्तराणि पद का न्यास क्यों ?

समाधान यह है कि उत्तराणि पद का ग्रहण सन्ध्यक्षरों से ऌकार की व्यावृत्ति के लिए किया गया है।

शब्दार्थ - ततः = समानाक्षरों के पश्चात्, उत्तराणि = अव्यवहितोत्तर वाले वर्ण

2.2.3 स्वर संज्ञा

सूत्रम् - **एते स्वराः**[2]

सूत्रार्थ- ये (समानाक्षर तथा सन्ध्यक्षर) स्वर संज्ञक होते हैं।

सरलार्थ- सूत्र में एते सर्वनाम पद पूर्व दो सूत्रों से निर्दिष्ट समानाक्षर तथा सन्ध्यक्षर का बोधक है।

अर्थात्- समानाक्षर अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, एवं सन्ध्यक्षर ए, ओ, ऐ, औ ये बारह वर्ण स्वर होते हैं।

ध्यातव्य है कि वर्णसमाम्नाय का उपदेश लौकिक वर्णमाला में किया गया है उसी उपदिष्ट वर्णसमाम्नाय के आदि और् उत्तर के वर्णो का ग्रहण होगा, जैसा कि उव्वट भाष्यकार लिखते हैं – **उपदिष्टो वर्णसमाम्नायो लौकिको विद्यते।**

2.2.4 अनुस्वार का स्वरूप

सूत्रम् - **अनुस्वारं व्यञ्जनं वा स्वरो वा**॥3

अनुस्वार की व्यञ्जन संज्ञा होती है और स्वर संज्ञा भी। अभिप्राय यह है कि कभी अनुस्वार का ह्रस्व होना, दीर्घ होना, उदात्त होना आदि स्वर के गुणों को धारण करता है तो कतिपय स्थानों पर अनुस्वार अर्द्धमात्रा काल को धारण करना, स्वर वश उदात्त होना, अनुदात्त होना आदि गुणों के आधार पर व्यञ्जन कोटि में परिगणित होता है। अत: अनुस्वार स्वर भी और व्यञ्जन भी होता है

2.2.5 व्यञ्जन संज्ञा

सूत्रम् - **सर्वःशेषो व्यञ्जनान्येव**॥4

---

[1] ऋ.प्रा.1/2

[2] ऋ.प्रा.1/3

[3] ऋ.प्रा. प्रथम पटल 1/4

सूत्रार्थ- स्वर और अनुस्वार से व्यतिरिक्त (शेष रह गए) वर्णों की व्यञ्जन संज्ञा होती है।

व्याख्या- प्रकृत सूत्र व्यञ्जन संज्ञा का विधान करता है। सर्वःशेषः अर्थात् वर्णमाला के जिन वर्णों की स्वर संज्ञा हो चुकी है, एवं जो अनुस्वार वर्ण हैं इनसे इतर वर्ण सर्वशेष पद से बोधित होंगे। इसी को भाष्यकार लिखते हैं- **उपयुक्तेतरवचनः शेषशब्दः, स्वरानुस्वारव्यतिरिक्तः सर्वः शेषः वर्णराशिः।**[5]

विशेष ज्ञातव्य- अर्थ को व्यक्त अथवा प्रकट करने वाले वर्णों को व्यञ्जन वर्ण कहते हैं- **व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्ति अर्थान् इति।**6 उदाहरण के लिए धूप, कूप, यूप, आदि शब्दों में स्वर वर्ण समान हैं केवल एक व्यञ्जन वर्ण का ही पृथक्त्व (भिन्न) होना अर्थ को भिन्न-भिन्न व्यक्त कर रहा है।

2.2.6 स्पर्श संज्ञा

सूत्रम्- **तेषामाद्याः स्पर्शाः॥**7

सुत्रार्थ- उन व्यञ्जनों में आदि वाले वर्ण स्पर्श संज्ञक होते हैं।

व्याख्या- व्यञ्जन वर्णो के आदि क वर्ण से लेकर म वर्ण पर्यन्त व्यञ्जन स्पर्श संज्ञा वाले होते हैं जिनका आभ्यन्तरप्रयत्न स्पर्श होता है।

2.2.7 अन्तस्थ संज्ञा

सूत्रम्- **चतस्रोऽन्तस्रोऽन्तस्थास्ततः॥**8

सूत्रार्थ- उन स्पर्श वर्णों के बाद चार वर्ण (य्, र्, ल्, व्,) अन्तस्थ संज्ञक होते हैं। ये चार वर्ण स्पर्श वर्णों एवं ऊष्म वर्णों के मध्य में अवस्थित होने से अन्तस्थ वर्ण कहे जाते हैं।

इसी प्रसङ्ग को भाष्यकार कहते हैं - **स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तस्थाः।**9

2.2.8 ऊष्म संज्ञा

सूत्रम्- **उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः॥**10 अन्तस्थसंज्ञक य्, र्, ल्, व्. वर्णों के बाद आने वाले आठ वर्णओ ऊष्म कहे जाते हैं ऊष्मा का अर्थ होता है मुख से निस्सरित होने वाली वायु। स्पष्टार्थ यह हुआ कि ह्, श्, ष्, स्, अः जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अं ये आठ ऊष्म संज्ञा वाले होते हैं।

2.2.9 अघोष संज्ञा

सूत्रम् - अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः॥**11**

---

[4] ऋ.प्रा. 1/6
[5] उव्वटभाष्यम्
[6] उव्वटभाष्यम्
[7] ऋ. भा. पटल 1/7
[8] ऋ. भा. पटल 1 /9
[9] ऋ.प्रा. उव्वटभाष्यम्
[10] ऋ.प्रा. पटल 1/10
[11] ऋ.प्रा. पटल 1 /11

सूत्रार्थ- उन ऊष्म संज्ञक आठ् वर्णों में अन्तिम सात वर्ण (श्, ष्, स्, अः जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अं) अघोष होते हैं।

सूत्रम् - **वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ।**।12

अर्थात् प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ) वर्ण अघोष संज्ञक होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष वर्ण घोष संज्ञा वाले जानने चाहिए।

2.2.10 सोष्म संज्ञा

सूत्रम् - **युग्मौ सोष्माणौ** ।।13

सूत्रार्थ- इस सूत्र में पूर्व सूत्र वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ से वर्गे वर्गे पद अनुवृत्त होता है। सूत्रार्थ होगा कि प्रत्येक वर्ग के सम (युग्म) वर्ण सोष्म संज्ञक होते हैं।

उदाहरणार्थ ख, घ, छ, झ्, ठ, ढ थ, ध फ, भ ये द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण सोष्मन् संज्ञा वाले होते हैं।

2.2.11 अनुनासिक संज्ञा

सूत्रम् - **अनुनासिकोऽन्त्यः।**।14

सूत्रार्थ- वर्ग के अन्तिम पञ्चम वर्ण अनुनासिक संज्ञक होते हैं। अनुनासिक वर्णों का उच्चारण अपने वर्णस्थान के साथ-साथ नासिका की सहायता से होता है। वे अनुनासिक शब्द से कहे जाते हैं।

इसी को भाष्यकार लिखते हैं- **नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक् इत्युच्यते।**15

2.2.12 ह्रस्व संज्ञा

सूत्रम् - **ओजा ह्स्वाः सप्तमान्ताः स्वरणाम्**16

स्वरों के मध्य सप्तम पर्यन्त विषम वर्णों की ह्रस्व संज्ञा होती है।

जैसे - अ, इ, उ, ऋ, ये ह्रस्व वर्ण है।

2.2.13 दीर्घ संज्ञा

सूत्रम् - **अन्ये दीर्घाः**17

ह्रस्व संज्ञक वर्णों से इतर जो स्वर वर्ण हैं वे दीर्घ संज्ञा वाले होते हैं। जैसे - आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ ये वर्ण दीर्घ कहलाते हैं।

2.2.14 अक्षर संज्ञा

---

[12] ऋ.प्रा. पटल 1 /12

[13] ऋ.प्रा. पटल 1 /13

[14] ऋ.प्रा. पटल 1 /14

[15] ऋ.प्रा. उव्वटभाष्यम्

[16] ऋ.प्रा. पटल 1/17

[17] ऋ.प्रा. पटल 1/18

सूत्रम् - **उभये त्वक्षराणि**18

ह्रस्व और दीर्घ संज्ञक स्वर तथा वक्ष्यमाण (कहे जाने वाले) लृकार और प्लुत ईकार दोनों की अक्षर संज्ञा होती है।

धातौ कल्पयताव्लृकार: से लृकार क्लृप् धातु में स्वर होता है तथा **"तिस्रःप्लुत उच्यते स्वरः"** तीन मात्रा वाला प्लुत भी अक्षर संज्ञक होता है।

2.2.15 गुरु संज्ञा

गुरुणि दीर्घाणि॥[19]

जो दीर्घ अक्षर होते हैं वे गुरु संज्ञक होते हैं तथा प्लुत स्वर वर्ण भी गुरु ही समझना चाहिए क्योंकि जहाँ द्विमात्रिक को गुरु स्वीकार किया जाता है वहाँ त्रिमात्रिक को भी स्वीकार किया जाता है। गुरु संज्ञा वाले वर्ण - आ, ॠ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई 3 ह ये हैं।

तथेतरेषां संयोगानुस्वार पराणि यानि 1/21[20]

सूत्रार्थः- इसके अतिरिक्त ह्रस्व अक्षरों के परे जहाँ संयोग है तथा अनुस्वार परे है वहाँ भी ह्रस्व अक्षर गुरु संज्ञा वाले हो जाते हैं।

अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम् 1/22[21]

सूत्रार्थः- इस सूत्र से अनुस्वार और व्यञ्जन अक्षरों का स्वर वर्णों के प्रति अङ्गत्व सिद्ध होता है। अनुस्वार और व्यञ्जन अक्षर स्वर के अङ्ग होते हैं।

स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य 1/23[22]

सूत्रार्थः- यहाँ ध्यान रहे कि जब दो स्वर वर्णों के मध्य में व्यञ्जन हो तो वह बाद वाले स्वर का अङ्ग माना जाएगा।

पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ 1/24[23]

सूत्रार्थः- यहीं पर यदि दो स्वरों के मध्य अनुस्वार और विसर्जनीय हो तो ने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग बनेंगे।

संयोगादिर्वा 1/25[24]

सूत्रार्थः- अङ्ग बनने के विषय में एक और नियम यह है कि संयोग का प्रथम वर्ण यदि स्वरान्तर (दो स्वरों केर्ते मध्य) हो तो वह विकल्प से पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर अङ्ग होता है।

च परक्रमे द्वे 1/26[25]

सूत्रार्थः- इसी क्रम में यदि संयोग के द्वितीय वर्ण को द्वित्व हुआ हो तो वहाँ भी विकल्प

18 ऋ.प्रा. पटल 1 /19
19 ऋ.प्रा. पटल 1 /20
20 ऋ.प्रा. पटल 1/21
21 ऋ.प्रा. पटल 1 /22
22 ऋ.प्रा. पटल 1 /23
23 ऋ.प्रा. पटल 1 /24
24 ऋ.प्रा. पटल 1
25 ऋ.प्रा. पटल 1/26

व्यवस्था पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर का अङ्गत्व होता है।

अब यहाँ पर प्रसङ्ग वश स्वर वर्णों के उच्चारण काल की चर्चा ग्रन्थकार ने इसी स्थल पर की है जो यहाँ प्रस्तुत है-

मात्रा ह्रस्वः1/27 [26]

सूत्रार्थः- ह्रस्व स्वर वर्ण एक मात्रा वाला होता है।

अवग्रह का उच्चारण काल भी **अवग्रहान्तरम्**[27] सूत्र से एक मात्रा वाला स्वीकार किया गया है।

द्वे दीर्घः[28] 1/29 दीर्घ वर्ण को द्विमात्रिक तथा प्लुत स्वर को तीन मात्रा वाला "**तिस्रःप्लुत उच्यते स्वरः**" सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट है व्यञ्जन वर्ण का काल अर्ध मात्रा होता है।

यही स्वर वर्णों के उच्चारण का से सम्बन्धित व्यवस्था पाणिनि व्याकरण में इस **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**[29] उश्च ऊश्च ऊ3श्च वः वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्-ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्[30]। सूत्र के माध्यम से की गई है। वहाँ पर भी ह्रस्व वर्ण को एक मात्रिक दीर्घ को द्विमात्रिक और प्लुत को तीन मात्रा वाला बताया गया है तथा व्यञ्जन को अर्ध मात्रा वाला निर्दिष्ट किया गया है।

2.2.16 रक्त संज्ञा

रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः1/36[31]

सूत्रार्थः- अनुनासिक वर्णों की रक्त संज्ञा होती है।

2.2.17 संयोग संज्ञा

संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः1/37[32]

व्यञ्जन वर्ण सन्निपात (सम्मिलित व्यञ्जन) संयोग संज्ञा वाले होते हैं।

2.2.18 वर्णस्थान संज्ञा

कण्ठ्योऽकारः1/38[33]

अकार वर्ण (अ, आ) का उच्चारण स्थान कण्ठ है।

प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम[34]॥

- ऊष्म वर्णों में भी प्रथम और पञ्चम ये दोनों कण्ठ्य स्थानी होते हैं।

प्रथम से हकार और पञ्चम से विसर्जनीय का ग्रहण होता है। कतिपय आचार्य हकार और

[26] ऋ.प्रा. पटल 1/27
[27] ऋ.प्रा. पटल 1/28
[28] ऋ.प्रा. पटल 1/29
[29] पा.सू. 1|2|27
[30] सि. कौमुदी
[31] ऋ.प्रा. पटल 1/36
[32] ऋ.प्रा. पटल 1/37
[33] ऋ.प्रा. पटल 1/38
[34] ऋ.प्रा. पटल 1/39

विसर्जनीय का स्थान उरस् मानते हैं- **केचिदेवा उरस्यौ**[35]

ऋकाराल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयः प्रथमश्च वर्गः[36]॥

- ऋकार (ऋ, ॠ, लृकार षष्ठ ऊष्म तथा प्रथम वर्गीय वर्ण क, ख, ग, घ, ङ) का स्थान जिह्वामूलीय है।

तालव्येकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः[37]॥

एकार चवर्ग च, छ, ज, झ, ञ, तथा इकार, ऐकार और शकार वर्णों का स्थान तालव्य निर्दिष्ट है।

मूर्धन्यौ षकारटवर्गौ[38]॥

- षकार और टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) ये मूर्धन्य स्थानी है।

दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः 1/44[39]

- तवर्ग का दन्तमूलीय स्थान है।

सकाररेफलकारश्च 1/45[40]

- सकार रेफ लकार का भी दन्तमूलीय स्थान है।

रेफं वर्स्व्यमेके 1/46[41]

- रेफ वर्ण कुछ विद्वान (व्याकरण परम्परा के आचार्य) वर्स्व्य स्थानीय मानते हैं।

शेषं औष्ठ्योऽपवाद नासिक्याम् 1/47[42]

- इस सूत्र के द्वारा नासिक्य स्थान वाले वर्णों को छोड़कर शेष वर्ण राशि का स्थान औष्ठ्य बताया गया है। यहाँ नासिका शब्द का अर्थ व्यापक है नासिक्य, यम, एवं अनुस्वार यह तीनों नासिक्य पद से अभिहित हैं।

2.2.19 नामि संज्ञा

ऋकारादयो दश नामिनस्वराः 1/64[43]

वर्णसमाम्नाय में ऋकार से लेकर क्रमशः दश वर्ण
नामि संज्ञक वर्ण होते हैं। नामि वर्ण - ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ,।
नामि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार कहते हैं **"नमयन्ति दन्त्यं मूर्धन्यं कुर्वन्ति इति।"**[44]

अर्थात् दन्त्य वर्णों को मूर्धन्य बना देना ही नामि संज्ञा है।

---

[35] ऋ.प्रा. पटल 1/40
[36] ऋ.प्रा. पटल 1/41
[37] ऋ.प्रा. पटल 1/42
[38] ऋ.प्रा. पटल 1/43
[39] ऋ.प्रा. पटल 1
[40] ऋ.प्रा. पटल 1
[41] ऋ.प्रा. पटल 1
[42] ऋ.प्रा. पटल 1
[43] ऋ.प्रा. पटल 1
[44] उव्वटभाष्यम

अन्तः पादं नाम्युपधः सकारः।[45]

- नामि संज्ञा का प्रयोजन लिखते हैं भाष्यकार पाद (चरण) के मध्य में नामि स्वर वर्ण के अव्यवहितोत्तर (अन्त्य वर्ण के व्यवधान रहित) बाद में जो सकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है।

2.2.20 प्रगृह्य संज्ञा

ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः 1/68[46]

सूत्रार्थ- आमंत्रित (सम्बोधन) से उत्पन्न जो ओकार वह प्रगृह्य संज्ञक होता है।

विवेचन- आमंत्रितजः का अभिप्राय यह है कि किसी को संबोधित किए जाने वाले पद के अन्त में विद्यमान जो ओकार वह प्रगृह्य संज्ञक होता है।

उदाहरण के लिए जैसे विष्णो इति। छन्दो इति। यह सूत्र अपने अर्थ को कहकर उत्तर सूत्रों (बाद में आने वाले) में प्रगृह्य संज्ञा का अधिकार सम्पादित करता है अतः अधिकार सूत्र की कोटि में पर्यवसित होता है। अधिकार सूत्र स्वार्थ और परार्थ दोनों को सम्पादित करता है।

जैसा कि ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट कहते हैं- **उभयार्थं परार्थं वा सूत्रं स्यादाधिकारिकम्।**[47]

शब्दार्थ- आमंत्रितजः= आमंत्रिताज्जातः (सम्बोधनार्थक पद से उत्पन्न)।

पदं चान्यः 1/69[48]

सूत्रार्थ- सम्बोधनार्थक पद के अन्त में जो ओकार उससे परे भी यदि स्वतन्त्र ओकार हो तो वह भी प्रगृह्य संज्ञक होता है।

अपूर्वपदान्तगश्च 1/70[49]

सूत्रार्थ- पूर्व पद के अन्त में न आने वाला ओकार भी प्रगृह्य संज्ञक होता है। यहाँ विचारणीय यह है कि पूर्व पद और उत्तर पद सम्बन्धी व्यवस्था तो समास वृत् में व्यवस्थित है, अतः सूत्र का अर्थ यह प्रकट होगा कि समास के पूर्व पद के अन्त में स्थित जो ओकार उसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी।

उदाहरण के लिए **"एषो उषा अपूर्व्या।** इस वाक्य में पूर्व पद के अन्त में विद्यमान ना होने से प्रगृह्य संज्ञक है। समस्त पद में जैसे **"यदहं गोपतिः स्याम"** यहाँ पूर्व पद में स्थित गकार उत्तरवर्ती ओकार होने के कारणप्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी।

षष्ठादयश्च द्विवचनोऽन्तभाजसत्रयो दीर्घाः 1/71[50]

सूत्रार्थ- वर्णमाला में छठे स्वर वर्ण से क्रमागत तीन दीर्घ स्वर (ई, ऊ, ए) यदि द्विवचनान्त पद के अन्त में आते हैं तो वह भी प्रगृह्य संज्ञक जानने चाहिए।

---

[45] ऋ.प्रा. उव्वटभाष्यम्
[46] ऋ.प्रा. पटल 1
[47] उव्वटभष्य
[48] ऋ.प्रा. पटल 1
[49] ऋ.प्रा. पटल 1
[50] ऋ.प्रा. पटल 1

उदाहरणार्थ- **"इन्द्रा बृहस्पती वयम्"** इस उदाहरण में पद के अन्त में स्थित दीर्घ ईकार प्रगृह्य संज्ञक है।

सप्तमी च पूर्वौ 1/72[51]

सूत्रार्थ- उपर्युक्त सूत्र में कथित तीन दीर्घ स्वरों में से ई, ऊ यह दोनों सप्तमी के अर्थ में विद्यमान होने पर भी प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।

उदाहरणार्थ **"वृत्तिं न शुष्कं सरसी शयानम्"** यहाँ सरस्याम् इस सप्तमी के अर्थ में प्रगृह्य होने से सरसी बना।

अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः 1/73[52]

सूत्रार्थ- अस्मे युष्मे त्वे अमी इन शब्दों के अन्त में जो ईकार वर्ण एवं ओकार वर्ण हैं वे प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।

उदाहरणार्थ जैसे कुछ वाक्य यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं -

अस्मे आ वहतं रयिम्।।[53]

न युष्मे राजबन्धवः।।[54]

त्वे इद् धूयते हविः।[55]

अमी ये पञ्चोक्षणः।।[56] आदि वाक्यों में सूत्र के नियम से प्रगृह्य जानना चाहिए। यहाँ उपर्युक्त सूत्र के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया गया है।

उपोत्तमं नानुदातं न पद्यम 1/74[57]

ध्यान रहे इन पदों में यदि उपोत्तम (अन्तिमवर्ण अनुदात्त या पद्य होने पर भी प्रगृह्य (वर्ण से पूर्व संज्ञा नहीं होगी। इसी आशय का आचार्य शौनक ने सूत्र उपनिबद्ध किया है। **उपोत्तमं नानुदातं न पद्यम्।**

उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन 1/75[58]

उकार के सन्दर्भ में प्रगृह्य संज्ञा की चर्चा करते हुए आचार्य शौनक कहते हैं कि अपृक्त (**एकवर्णः पदम् अपृक्तम्**) उकार प्रगृह्य संज्ञा वाला होता है और वह उकार इतिकरण (इति शब्द से युक्त) संयुक्त होने पर रक्त अनुनासिक व दीर्घ भी होता है शाकल आचार्य के मत में।

ऊँ इति। उदाहरण यहाँ ऊकार इतिकरण से युक्त होकर प्रगृह्य अनुनासिक और दीर्घ हो गया है।

---

[51] ऋ.प्रा. पटल 1

[52] ऋ.प्रा. पटल 1

[53] ऋग्वेद 8/5/15

[54] ऋग्वेद 8/68/19

[55] ऋग्वेद 1/26/06

[56] ऋग्वेद 1-105/10

[57] ऋ.प्रा. पटल 1

[58] ऋ.प्रा. पटल 1

2.2.21 रेफित संज्ञा

ऊष्मा रेफो पञ्चमो नामि पूर्वः 1/76[59]

सूत्रार्थ- नामि वर्ण पूर्व में हो तो ऊष्म पञ्चम वर्ण विसर्जनीय रेफि संज्ञक हो जाता है

व्याख्या- अ एवं आ से भिन्न स्वर के बाद में आने वाला विसर्जनीय रेफित कहलाता है। उदाहरणार्थ **"अग्निः अस्मि जन्मनः"** यहाँ नकार उत्तरवर्ती इकार पूर्व में होने के कारण उसके बाद में आने वाला पञ्चम ऊष्म वर्ण विसर्जनीय रेफि संज्ञक हो जाएगा।

महोऽपो वर्जमितरो यथोक्तम 1/77[60]

यहीं पर ध्यान रहे कि केवल महः, अपः इन दोनों शब्दों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र अ, अथवा आ के बाद आने वाला विसर्जनीय भी रेफि संज्ञक होता है।

उदाहरणार्थ- **अवर्मह इन्द्रः**।[61]

अपस्कः।[62] इन स्थलों पर रेफि संज्ञा नहीं होगी मह और अप शब्दगत अकार से विसर्जनीय परे होने के कारण प्रतिषिद्ध है।

अन्तोदात्तमन्तः 1/78[63]

अन्तोदात्त अन्तः शब्द रेफि संज्ञक होता है।

उदाहरण- **अन्तरिच्छन्ति तं जने**[64]

अक्षा विपर्यये 1/79[65]

स्वर विपर्यय होने पर अक्षा शब्द रेफि संज्ञक होता है।

स्पर्शे घोषःप्रत्यये पूर्वपद्यः1/80[66]

पूर्व पद्य होने पर उषःशब्द स्पर्श (व्यञ्जन) परे होने पर रेफि संज्ञक होता है।

प्रातः 1/81[67]

प्रातः ञ्शब्द रेफि संज्ञक होता है।

देवं भाः1/82[68]

देव शब्द पूर्चक भाः यह पद भी रेफि संज्ञक होता है।

वधराद्युदात्तम 1/83[69]

आद्युदात्त वधः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

---

[59] ऋ.प्रा. पटल 1
[60] ऋ.प्रा. पटल 1
[61] ऋग्वेद 1/133/6
[62] ऋग्वेद 7/21/03
[63] ऋ.प्रा. पटल 1
[64] ऋ. 8/72/3
[65] ऋ.प्रा. पटल 1
[66] ऋ.प्रा. पटल 1
[67] ऋ.प्रा. पटल 1
[68] ऋ.प्रा. पटल 1
[69] ऋ.प्रा. पटल 1

करनुदात्तम 1/84[70]

अनुदात्त होने पर करः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

अविभः 1/85[71]

अविभः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

तदादः 1/86[72]

तत् पूर्वक आदः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

स्तः प्राचाम् 1/87[73]

स्तः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

एतशे कः 1/88[74]

एतशे पूर्वक कः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

दिवे कः 1/89[75]

दिवि पूर्वक कः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

अपस्कः 1/90[76]

अप *शब्द पूर्वक कः* पद भी रेफि संज्ञक होता है।

अत्साः 1/91[77]

अत्सा पद भी रेफि संज्ञक होता है।

अविपूर्वमस्तः 1/92[78]

वि पूर्व में न हो तो 'अस्तः पद 'रिफित होता है।

स्वः स्वरितम् 1/93[79]

स्वरित होने पर स्वः पद भी रेफि संज्ञक होता है।

न समासाङ्गमुत्तरम् 1/94[80]

समास का उत्तर-पद अङ्ग हो तो स्वः पद 'रिफित नहीं होता है।

स्वरादेशोऽपूर्वपदेषु 1/95[81]

अन्तोदात्तमन्तः, वधराधुदात्तम्: स्वः स्वरितम्, इत्यावेशः सः सूत्रों में किया गया स्वर का विधान पूर्व-पद न होने पर ही लागू होता है।

---

70 ऋ.प्रा. पटल 1
71 ऋ.प्रा. पटल 1
72 ऋ.प्रा. पटल 1
73 ऋ.प्रा. पटल 1/
74 ऋ.प्रा. पटल 1/88
75 ऋ.प्रा. पटल 1/89
76 ऋ.प्रा. पटल 1/90
77 ऋ.प्रा. पटल 1/91
78 ऋ.प्रा. पटल 1/92
79 ऋ.प्रा. पटल 11/93
80 ऋ.प्रा. पटल 1/94
81 ऋ.प्रा. पटल 1/95

अनर्धर्चान्ते स्वरघोषवत्परमूधः 1/97[82]

यदि स्वर वर्ण या सघोष व्यञ्जन बाद में हो तो अर्धर्च के अन्त में न आने वाला'ऊध पद 'रिफित संज्ञक होता है।

न रेफेऽरुषासोऽतृणन्मही 1/98[83]

रेफ, अरुषास:, अतृणत् अथवा मही शब्द बाद में होने पर 'ऊध:' 'रिफित' संज्ञक नहीं होगा।

उदाहरण- रेफे – समूघो रोमशं हृतः। अरुपास:- रिहन्त्यूथो अरुवासो अस्य। अतृणत्- शुच्यूधो अतृणन्न गवाम्। मही– 'पूविनयंदूधो मही जभार'।

वरवरावरिति चैकपादे व्यपपूर्वाण्यसमासाङ्गयोगे 1/99[84]

वः अवः आवः- इत्येतानि पदानि रिफितसंज्ञानि भवन्ति।[85]

एक पाद में ही 'वि या 'अप' पूर्व में हो तो 'व: 'अवः और आव: 'रिफित' संज्ञा वाले होते हैं, यदि इन पदों में से कोई भी समास का अङ्ग नहीं होना चाहिए।

पूर्वोऽचिपातीतृषामोत्तरेषु न 1/100[86]

'पथ्या, 'मघोनी, दिवि, चक्षसा, मदे, पूर्व:, अर्चिषा और अतीतृषाम् पद बाद में हों तो वः, अव: और आव: 'रिफित' संज्ञक नहीं होते हैं।

उदाहरण- व्युषा आवः पथ्या जनानाम्। मधोनी- अथो अद्येदं व्यावो मघोनी।

होतः सनितः पोतर्नेष्टः सोतः सवितर्नेतस्त्वष्टः। मातर्जनितर्भ्रात्स्त्रात स्थातर्जरितर्धातर्धर्तः 1/101[87]

होतः, सनितः, पोत:, नेष्ट, सोतः, सवितः, नेतः, त्वष्टः, मातः, जनितः, भ्रातः, त्रातः, स्थातः, जरितः, घातः, घर्तः ये पद 'रिफित 'संज्ञक होते हैं।

उदाहरण- होत:- यथा होतमंनुषो देवताता। सनितः– सनितः सुसनित यय।

जामातर्दुहितर्दर्तः प्रशास्तरवितः पितः।

दोषावस्तरवस्पर्तः प्रयन्तश्चेङ्गयमुत्तमम्॥ 1/102[88]

जामातः, दुहितः, दर्तः', प्रशास्तः, 'आवतः', 'पितः', 'दोषा वस्तः', 'अवस्पत:' और 'प्रयन्तः' ये पद 'रिफित संज्ञक होते हैं; अन्तिम अर्थात् 'प्रयन्तः सावग्रह 'प्रऽयन्त: होने पर ही रिफित 'संज्ञक होता है।

दीधरभारवरी वरदर्दर्दर्दरदर्घ जागरजीगः।

---

[82] ऋ.प्रा. पटल 1/97

[83] ऋ.प्रा. पटल 1/98

[84] ऋ.प्रा. पटल 1/99

[85] उव्वटभश्ये

[86] ऋ.प्रा. पटल 1/100

[87] ऋ.प्रा. पटल 1/101

[88] ऋ.प्रा. पटल 1/102

वारपुनः पुनरस्परक स्पः सस्वरहः सनुतः सचरस्वाः॥ 1/103[89]

दीघः, 'अभाः', 'अवरीवः', 'अदर्द', 'दर्द अदर्घः', 'अजागः', 'अजीगः', 'वाः', 'अपुनः पुनः', 'अस्पः', 'अकः', 'स्पः', 'सस्वः', 'अहः', 'सनुतः सवः' और 'अस्वाः' ये पद 'रिफित संज्ञक' होते हैं।

2.3 सारांश

- संज्ञा शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा अवबोधनार्थक धातु से अङ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है चेतना, ज्ञान अथवा बुद्धि।
- शास्त्र में वर्ण या वर्ण समुदाय विशेष की कोई संज्ञा विधान करके शब्द शास्त्रीय व्यवहार सम्पादित किया जाता है।
- वर्णसमाम्नाय के आदि में आठ अक्षर समानाक्षर हैं।
- ए, ओ, ऐ, औ, ये चार वर्ण सन्ध्यक्षर हैं।
- समानाक्षर अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, एवं सन्ध्यक्षर ए, ओ, ऐ, औ ये बारह वर्ण स्वर होते हैं।
- स्वर और अनुस्वार से व्यतिरिक्त (शेष रह गए) वर्णों की व्यञ्जन संज्ञा होती है।
- अर्थ को व्यक्त अथवा प्रकट करने वाले वर्णों को व्यञ्जन वर्ण कहते हैं- **व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्ति अर्थान् इति।**[90]
- वर्ग के अन्तिम पञ्चम वर्ण अनुनासिक संज्ञक होते हैं।

2.4 शब्दावली

- **पद** = सुबन्त और तिङन्त शब्द
- **पदार्थोक्ति** = प्रत्येक पद के द्वारा कहा जाने वाला अर्थ।
- **आनन्तर्य** = सदृश।
- **वर्णराशि** = वर्णों का समुदाय।
- **व्यञ्जन** = अर्थ को व्यक्त करने वाले वर्ण।
- **आदि** = प्रारम्भ

2.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित व्याख्याकार- वीरेन्द्र कुमार वर्मा

[89] ऋ.प्रा. पटल 1/103

[90] उव्वटभाष्यम्

- वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - (सम्पादक) वि. वेंकटराम शर्मा
- पाणिनिव्याकरणसूत्राष्टाध्यायी
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - (हिन्दी व्याख्याकार) गोपालदत्तपाण्डेय
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर ऋषि
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गौरेला
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा अकादमी, वाराणसी
- ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - (शोधकर्ता) नेत्रा श्रीवास्तव
- व्याकरण महाभाष्यम् - चौखम्बा अकादमी, वाराणसी

2.6 बोध प्रश्न

1. समानाक्षर संज्ञक कितने वर्ण हैं? सविवरण व्याख्या कीजिए।
2. ए, ओ, ऐ, औ वर्णों की कौनसी संज्ञा विहित है?
3. गुरु संज्ञा विधायक सूत्र लिखिए।
4. षकार और टवर्ग का वर्णस्थान बताइए।
5. रक्त संज्ञक वर्ण कौन है? ससूत्र व्याख्या कीजिए।
6. अन्तस्थ संज्ञा किन वर्णों की होती है?
7. अक्षर संज्ञा विधायक सूत्र कौन सा है?

इकाई 3 ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार परिभाषाएँ

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सन्धि विषयक परिभाषा सूत्र

3.3 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परिभाषाओं का संक्षेप में वर्णन

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.7 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- सूत्रों के प्रकार तथा स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- विधि के अर्थ सम्पादन में परिभाषा की उपयोगिता के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- सन्धि विषयक परिभाषा सूत्र के बारे में बताएंगे।
- वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परिभाषाओं के महत्व को बताएंगे।

3.1 प्रस्तावना

व्याकरण शास्त्र में छः रकार के सूत्र बतलाये गए हैं उनमें परिभाषा सूत्र भी सूत्रों के एक प्रकार में सम्मिलित है। परिभाषा सूत्रों का विधि सूत्रों के अर्थ सम्पादन में अतीव महत्वपूर्ण योगदान है। परिभाषा सूत्रों से एकवाक्यता सम्पादन के बाद ही विधिशास्त्र प्रवृत्त होते हैं, इसीलिए परिभाषा शास्त्र को **"अनियमे नियमकारित्वं परिभाषात्वम्"** बताया गया है। अभिप्राय यह है कि विधि सूत्रों के द्वारा कृत विधान कार्य अव्यवस्थित होने पर परिभाषा सूत्र विधि सूत्रों के उप कारक के रूप में उपस्थित होकर विधिशास्त्र का अर्थ व्यवस्थित रूप से सम्पादित करते हैं, तदनन्तर विधि सूत्र प्रवृत्त होते हैं।

जैसे उदाहरण के लिए पाणिनि व्याकरण में गुण सन्धि विधान के प्रसङ्ग में "इको यणचि" 6/1/771(अचि परतः इको यणादेशो भवति) इस सूत्र के द्वारा इक् (इ,उ,ऋ,लृ,) के स्थान पर यण् य्, व्, र्, ल्, होते हैं। सुधी + उपास्य यहाँ कौन सा यण् प्रत्याहार घटक वर्ण धकारोत्तवर्ती ईकार के स्थान पर होगा? इस प्रकार की अव्यवस्था उपस्थित होने पर पाणिनि अष्टाध्याई का परिभाषा सूत्र **"स्थानेऽन्तरतमः"**2 के द्वारा गुण सन्धि विधायक विधिशास्त्र के उप कारक के रूप में उपस्थित होकर सूत्रार्थ का व्यवस्थापन किया जाता है कि प्रसङ्ग होने पर सदृशतम

[1] " 6|1|77

[2] पा.सू.1|1|50

आदेश होता है । सिद्धांत-कौमुदी में भट्टोजि दीक्षित लिखते हैं **"प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्।"**

यहाँ स्थानकृत आन्तर्य की व्यवस्था से ई के स्थान पर य् आदेश होता है। इस प्रकार विधिशास्त्र इको यणचि[3] के उप कारक के रूप में परिभाषा **"शास्त्र स्थाने ऽन्तरतमः"** उपस्थित होता है तथा शास्त्र कार्य व्यवस्थित रूप से सम्पादित किया जाता है। अतः उपयुक्त उदाहरण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि परिभाषा शास्त्र विधि शास्त्रों के नितान्त उप कारक हैं एवं विधिशास्त्र भी परिभाषा शास्त्र के साथ एक वाक्यता करने के बाद ही लक्ष्य में प्रवृत्त होते हैं।

अब यहाँ पर प्रसङ्ग प्राप्त ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार परिभाषा सूत्रों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

सूत्रम्- **न्यायैर्मिश्रानपवादान्प्रतीयात्॥**[4]

सूत्रार्थ- उत्सर्ग शास्त्रों (सामान्य शास्त्रों) को अपवाद शास्त्रों (विशेष शास्त्रों) से मिश्रित जानना चाहिए। अर्थात् अपवादों को सामान्य नियमों से मिला हुआ समझना चाहिये। न्याया:- उत्सर्गः महाविषया विषयः।

यहाँ सूत्र में दो पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना चाहिए। प्रथम शब्द है न्याय इस शब्द का अर्थ होगा सामान्य नियम, उत्सर्ग शास्त्र, अथवा व्याप्य शास्त्र। उत्सर्ग शास्त्र का अभिप्राय विस्तृत क्षेत्र वाले विधिशास्त्र से है जो सामान्य नियम होता है उसका क्षेत्र विशद होता है।

दूसरा पद है अपवाद इसका अर्थ होता है अल्प विषय वाली विधियाँ। अपवाद शास्त्र को विशेष शास्त्र, नियामक शास्त्र भी कहा जाता है।

उदाहरण के लिए देखा जाए तो जैसे **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**[5] सूत्रवृत्ति- **धातुं प्रत्ययं प्रत्यान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।** सूत्र से होने वाली प्रातिपदिक संज्ञा का क्षेत्र विस्तृत है अतः यह शास्त्र व्याप्य, सामान्य अथवा उत्सर्ग कहलाएगा और वहीं पर **कृत्तद्धितसमासाश्च** [6] (वृत्ति- **कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः। पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्, यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैवेति। तेन वाक्यस्य न।**) सूत्र से केवल कृदन्त और तद्धितान्त तथा समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है जो सीमित, अल्प क्षेत्र वाली है अतः यह सूत्र अपवाद शास्त्र कहा जाएगा।

सामान्य शास्त्र अर्थात उत्सर्ग शास्त्र के कुछ अंश विशेष में ही अपवाद शास्त्र की प्रवृत्ति होती है जहाँ पर सामान्य नियम का क्षेत्र होता है वहाँ पर जब अपवाद शास्त्र विशेष नियम प्रवृत्त होता है तब अपवाद शास्त्र वाला कार्य ही होता है।

उव्वट भाप्यकार इस प्रसङ्ग को उदाहरण के सहित स्थापित करते हुए लिखते हैं कि **स्पर्शा, पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापितामामवशंगमं तत्** अर्थात यदि स्पर्श वर्ण पूर्व में हो व्यञ्जन

---

[3] पा.सू. 6।1।77
[4] ऋ.प्रा. 1/23
[5] पा. सू. 1।2।45
[6] पा.सू. 1।2।46

वर्ण बाद में उत्तर में आए तो वहाँ आस्थापित सन्धियों के मध्य अवशंगम होता है। अवशंगम का अभिप्राय यह है कि जहाँ वर्ण केवल समीप में आ जाते हैं परन्तु विकार नहीं होता है यह सामान्य (उत्सर्ग) विधि है।

घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान् यह अपवाद नियम है इसके द्वारा यदि स्पर्श वर्ण के बाद सघोष व्यञ्जन हो तो प्रथम स्पर्श वर्ण तृतीय स्पर्श वर्ण हो जाता है यह पूर्ववर्ती सामान्य नियम का अपवाद शास्त्र है अतः इन दोनों उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रों को मिला हुआ एकीकृत जानना चाहिए।

इसी बात को उव्वट भाष्यकार लिखते हैं मूल में कि **अपवादविषयं मुक्त्वा उत्सर्गाः प्रवर्तन्ते इति।**7 अर्थात अपवाद विषय को छोड़कर ही उत्सर्ग शास्त्र प्रवृत्त पोते हैं जहाँ विशेष नियम होता है उस विषय को छोड़कर सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

डॉ वीरेन्द्र कुमार वर्मा ऋग्वेद प्रातिशाख्य के उव्वट भाष्य एवं विष्णु मित्र कृत वर्गद्वयवृत्ति टीका का भावार्थ इस प्रकार उपस्थापित करते हैं-

तात्पर्य यह है कि सामान्य-नियम और अपवाद-इन दोनों की जहाँ प्राप्ति होती है वहाँ अपवाद वाला कार्य होगा।

3.3 सन्धिविषयक परिभाषा सूत्र

सूत्रम् - पदान्तादिष्येव विकारशास्त्रं
पदे दृष्टेषु वचनात्प्रतीयात्। **8**।

पद पाठ में दिखलाई पड़ने वाले पदान्तों और पदादियों में दी विकार सम्बन्धी शास्त्र को लागू जानना चाहिए और यहाँ भी यह विकार सम्बन्धी शास्त्र विधान के अनुसार (वचन) ही लागू होता है।

डॉ वीरेन्द्र कुमार वर्मा ऋग्वेद प्रातिशाख्य के उव्वट भाष्य एवं विष्णु मित्र कृत वर्गद्वयवृत्ति टीका का भावार्थ इस प्रकार उपस्थापित करते हैं-

पदे दृष्टेषु पदावस्यायामुपलब्धेषु। पदान्तादिषु पदे दृष्टेषु अपि वचनात् प्रतीयात्। वचनमन्तरेण विकारो न भवति। पदान्तेषु पदादिपु "पर्यमा मनुषः।"वसुं सूनुं सहसः" आपो हि ष्ठा मयोभूयः परा बीरास" एतन। पदे दृष्टेषु इति किम्? "ता अस्य पुनायुः"; "तस्मा अर मामकः अत्र पर सन्धिनं भवति। वचनात् इति किम्? "अग्निमीळे पुरोहितम्अत्र मकारस्य पदान्तीयस्य वचनमन्तरेण न कचिकार॥ ""

- वसुं मुनुं सहस

यहाँ पर वसुम् और सूनुम् इन दोनों पदों के अन्त में आने वाला मकार संहिता पाठ में अनुस्वार हो जाता है। त्र्यर्यमा मनुषः त्री अर्यमा मनुषः यहाँ पर = 'त्री' पद के अन्त में आने वाला ईकार सहिता पाठ में यकार हो जाता है।

---

7 उ.भा.

8 ऋ.प्रा.2/ 5

पदादियों में विकार का उदाहरण आपो हि ष्ठा मयोभुवः ऽभुवः यहाँ पर:हि स्थ मय :आप = 'पद के आदि में विद्यमान सकार संहितापाठ में षकार हो गया है।- तात्पर्य यह है कि आगे बतलाये जाने वाले सूत्रों में जिन सन्धि वे निगम पद के अन्तिम नियमों का विधान किया गया-वर्ण और प्रथमवर्ण पर ही लागू होते हैं अर्थात् उनके अनुसार सन्धि पदान्त और पदादि में ही होगी।

जैसा कि वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कहा गया है- **पदान्तपदाद्योः सन्धिः**

सर्वशास्त्रार्थं प्रतिकण्ठमुक्तम्[9]॥1/54

सम्पूर्ण शास्त्र में विषय निपातन अर्थात् प्रतिकण्ठ को कहा गया है।

इस सूत्र का उव्वट भाष्य इस प्रकार है-

सर्व च तच्छास्त्रं च सर्वशास्त्रम् । तस्यार्थः सर्वशास्त्रार्थः । तं सर्वशास्त्रार्थम् उत्सर्गत्वेन पुरस्कृत्य तस्यैवापवादत्वेन प्रतिकण्ठमुक्तं जानीयात् । प्रतिकण्ठ शब्देन निपातनमुच्यते । तद्धि कण्ठं कण्ठमिव प्रतिसंगृह्येकैकस्यैव प्रदर्श्यते । "तू इत्या ते "न्वित्था" इति प्राप्ते क्षेप्रसंधेरपवादो दीर्घत्वं च निपात्यते । "परीतो विञ्चत" इति " इतः सिञ्चत" इति प्राप्ते विसर्जनीयस्य सोपधस्यौत्वं निपात्यते परस्य च पत्यम् ॥

सम्पूर्ण शास्त्र के विषयों को सामान्य शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करके उसके ही अपवाद के रूप में 'प्रतिकण्ठ' को कहा गया जानना चाहिये। 'प्रतिकण्ठ' के द्वारा निपातनों को कहा जाता है। उन निपातनों को नाम लेलेकर एक एक-को दिखलाया जाता है।10

ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा की टिप्पणी में व्याकरण की विधियों का उल्लेख इस प्रकार है- विधि तीन प्रकार की होती है सामान्य विधि, अपवाद-विधि और निपातन-विधि । सामान्य विधि में किसी बात का सामान्यतः विधान किया जाता है। अपवाद विधि सामान्य विधि के विरुद्ध विधान करके सामान्य विधि का किसी विशिष्ट क्षेत्र में बाघ कर देती है। निपातन-विधि संपूर्ण शास्त्र का बाध करती है। अपवाद विधि और निपातन-विधि में यह मुख्य भेद है कि अपवाद-विधि प्रायशः किसी एक सामान्य-विधि से सम्बद्ध होती है। इसके विपरीत निपातन-विधि का सम्बन्ध किसी एक सामान्य विधि के साथ नहीं होता। वह तो सम्पूर्ण शास्त्र का अपवाद होती है। दूसरा भेद यह है कि अपवाद-विधि में प्रतिपादित नियम के अनेक उदाहरण हो सकते हैं जिनको सूत्रों में नाम से लेकर गिनाया नहीं जाता है। इसके विपरीत निपातन-विधि में कोई ऐसा विधान नहीं होता जिसके अनेक उदाहरण हो सकें। यहाँ तो साधारण नियमों के विरुद्ध सभी स्थलों को नाम से लेकर गिनाया जाता है। आचार्य के उच्चारण (उल्लेख) के कारण ये साधारण नियमों के विरुद्ध रूप भी निपातन से साधु (समर्पित) होते हैं ।

यद्यपि यहाँ अपवादविधि और निपातन-विधि का भेद प्रस्तुत कर दिया गया है तथापि कौन विधि अपवाद-विधि है और कौन निपातन विधि है इसमें कार तथा भाष्यकार ही प्रमाण है। सूत्रकार अथवा भाष्यकार जिस विधि की अपवाद-विधि कहे वह अपवाद-विधि है और जिसे निपातन विधि कहे वह निपातन-विधि है।

नु । इत्वा । ते ।

यहाँ उकार के परे इकार होने के कारण यहाँ 2|21 से 'क्षेत्र' सन्धि प्राप्त होती है जिससे उकार को वकार में परिणत होना चाहिये किंतु निपातन से 'क्षेत्र' सन्धि नहीं हुई और उकार ऊकार हो गया।

---

[9] ऋ.प्रा.1/54

[10] ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ.79

"नू इत्या ते" का निपातन के रूप में उल्लेख सूत्रकार ने 2|70 में किया है।11

स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणां
स्वादेशे स्वदीर्घौ सवर्णौ12 ॥1/55

स्वर वर्णो के स्थान' और प्रश्लिष्ट' सन्धि के उपदेश में जहाँ हस्व स्वर 'वर्ण का उल्लेख हो वहाँ हस्व और दीर्घ दोनों सवर्ण समझना चाहिये।

इस सूत्र का उव्वट भाष्य इस प्रकार है-

कण्ठपोऽकारः इत्यादि स्थानोपदेशः । "समानाक्षरे सस्थाने इत्यादि प्रश्लेषोपदेशः । स्थानप्रश्लेषोपदेशे = एतस्मिन् उभयरूपे; स्वराणाम् उपवेशे सति ह्रस्वादेशे= पत्र ह्रस्वस्वर आदिश्यते तत्र उभावपि ह्रस्वदीर्घौ सवर्णो प्रत्येतव्यौ । "कण्ठपोऽकारः" इत्युक्ते ह्रस्वदीर्घावपि गृह्येते । उपलक्षणार्थं चैतत् तथाहि अधः स्विदासी 3त् इत्यादीनां प्लुतानां तालुस्थानं भवतीति। तथा "इकारोदय एकारमकारः सोदयः" इत्युक्ते ह्रस्वदीर्घावपि गृह्येते । स्थानप्रश्लेषोपदेशे इति किम् ? " ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्" इति ह्रस्व एव गृह्यते ॥

स्थान' के प्रसङ्ग में 'हस्व' 'स्वर' वर्ण कहने से 'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत' इन तीनों का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिये ऋ.प्रा. 1।42 में यद्यपि 'इ' को ही 'तालव्य' बतलाया गया है तथापि इससे 'इ', 'ई' और 'ई3' इन तीनों को 'तालव्य' समझना चाहिये13।

असावमुमिति तद्भावमुक्तं यथान्तरम् ॥1/56 [14]

-विकार को प्राप्त करने वाले वर्णों को प्रातिशास्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति में रखा गया है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्गों को द्वितीया विभक्ति में रखा गया है।

तात्पर्य यह है कि प्रथमा विभक्ति में निर्दिष्ट वर्ण उच्चारण-स्थान यादि की दृष्टि से अपने सर्वाधिक समीप वर्ण में ही परिवर्तित होता है।

इस सूत्र का उव्वट भाष्य इस प्रकार है-

असौ इति प्रथमानिविष्टस्य ग्रहणम् । अमुम् इति द्वितीयानिदिष्टस्य । यत्र असौ वर्णः अमुम् इत्येवं वक्ष्यति तत्र तद्भावमुक्तम् जानीयात् । तत् इत्यनेन द्वितीया निर्दिष्टं परामृश्यते । तेन रूपेण भवनम् तद्भावः । स च प्रथमानिविष्टस्य भवति । त च तद्भावं यथान्तरं जानीयात् । यो यस्य; अन्तरः संनिकृष्टः स्थानकरणानुप्रवानः:; स तस्य भवति । यथा "समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्"" इति । तब अयम् = ''तवायम्"'– अत्र असावमुमिति तद्भावमुक्तम् इति द्वावकारौ दीर्घमेकं स्वरमापद्येते। सच यथान्तरम् इति कृत्वा आकारमेवापयेते । मधु उदकम् " मधूदकम् – अत्र असावमुमिति तद्भावमुक्तम् इति द्वावकारी दीर्घमेकं स्वरमापद्येते । तं च यथान्तरम् इति कृत्वा ऊकारमेवापद्येते ॥

---

[11] ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ.79
[12] ऋ.प्रा. 1/55
[13] ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ.80
[14] ऋ.प्रा. 1/56

'प्रलिष्ट' सन्धि के प्रसङ्ग में 'ह्रस्व' 'स्वर' वर्ण कहने से 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'-' इन दोनों का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिये 2।16 में यह कहा गया है। कि इकार परे हो तो अकार परवर्ती इकार के साथ एकार हो जाता है। यहाँ इकार से 'इ' और 'ई' – इन दोनों को और अकार से 'अ' और 'आ' – इन दोनों को समझना चाहिये जिससे अ या आ + इ या ई ए। यहाँ 'ह्रस्व' कहने से 'ह्रस्व' 'स्वर' वर्ण का ही ग्रहण होता है, 'दीर्घ' का नहीं क्योंकि यह सूत्र 'स्थान' और 'प्रक्लिष्ट' सन्धि के प्रसङ्ग में नहीं आया है।[15]

3.4 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परिभाषाओं का संक्षेप में वर्णन

पदान्तपदाद्योः सन्धिः।।[16]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में पदान्त और पदादि में सन्धि होती है यथाआ इदम् - एदम् यहाँ पर पूर्वपद के अन्त में आ है और उत्तर पद के आदि में इकार है। इन दोनों में सन्धि होकर एदम् रूप सिद्ध होता है।

न परकालः पूर्वकाले पुनः17।।3/4

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परकाल की सन्धि के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि नहीं होती।

ह्यन्तराः कालाः।।3/5[18]

सन्धि विधानों में हि शब्द के द्वारा काल का निर्धारण किया जाता है। आशय यह है कि सन्धि विधान में पूर्वकाल सन्धि एवं परकाल सन्धि का विभाग हि शब्द के द्वारा किया जाता है।

3.5 सारांश

- परिभाषा सूत्रों का विधि सूत्रों के अर्थ सम्पादन में अतीव महत्वपूर्ण योगदान है
- उत्सर्ग शास्त्र का अभिप्राय विस्तृत क्षेत्र वाले विधिशास्त्र से है।
- अपवाद का अर्थ होता है अल्प विषय वाली विधियाँ। अपवाद शास्त्र को विशेष शास्त्र, नियामक शास्त्र भी कहा जाता है।
- उत्सर्ग शास्त्र के कुछ अंश विशेष में ही अपवाद शास्त्र की प्रवृत्ति होती है,
- सामान्य विधि में किसी बात का सामान्यतः विधान किया जाता है। अपवाद विधि सामान्य विधि के विरुद्ध विधान करके सामान्य विधि का किसी विशिष्ट क्षेत्र में बाघ कर देती है। निपातन-विधि संपूर्ण शास्त्र का बाध करती है। अपवाद विधि और निपातन-विधि में यह मुख्य भेद है कि अपवाद-विधि प्रायशः किसी एक सामान्य-विधि से सम्बद्ध होती

---

[15] ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ.81

[16] *वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/3*

[17] *वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/4*

[18] *वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/5*

है। इसके विपरीत निपातन-विधि का सम्बन्ध किसी एक सामान्य विधि के साथ नहीं होता। वह तो सम्पूर्ण शास्त्र का अपवाद होती है। दूसरा भेद यह है कि अपवाद-विधि में प्रतिपादित नियम के अनेक उदाहरण हो सकते हैं जिनको सूत्रों में नाम से लेकर गिनाया नहीं जाता है। इसके विपरीत निपातन-विधि में कोई ऐसा विधान नहीं होता जिसके अनेक उदाहरण हो सकें। यहाँ तो साधारण नियमों के विरुद्ध सभी स्थलों को नाम से लेकर गिनाया जाता है। आचार्य के उच्चारण (उल्लेख) के कारण ये साधारण नियमों के विरुद्ध रूप भी निपातन से साधु (समर्पित) होते हैं।

3.6 शब्दावली

उत्सर्ग + सामान्य

अपवाद+ विशेष

आन्तर्य+ सदृश

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित - (व्याख्या.) वीरेन्द्र कुमार वर्मा
- वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - (सम्पा.) वि. वेंकटराम शर्मा
- पाणिनिव्याकरणसूत्राष्टाध्यायी
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - (हिन्दी व्याख्या.) गोपालदत्तपांडेय
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर ऋषि
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गौरेला
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय
- ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - (शोधकर्ता) नेत्रा श्रीवास्तव

3.8 बोध प्रश्न

1. विधि सूत्रों के अर्थ सम्पादन में किन सूत्रों का योगदान है ? विशद विवेचन कीजिए।
2. व्याकरण शास्त्र में कितने प्रकार के सूत्र बतलाये गए हैं ?
3. अपवाद का अर्थ क्या है ? उदहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार वैदिकस्वर : उदात्त, अनुदात्त और स्वरित

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 उदात्तानुदात्तस्वरितवर्णनम्

4.2.1 स्वराणां संख्या उच्चारण-प्रकारश्च

4.2.2 स्वरों के चिह्न

4.2.3 स्वर और अक्षरका सम्बन्ध.

4.2.4 सन्धि में स्वर की निष्पत्ति

4.2.5 स्वरित का उच्चारण प्रकार

4.2.6 स्वर विधान में शाकत्य मत

4.2.7 सन्धिज स्वरों का संज्ञा विधान

4.2.8 संहिता में प्रचय स्वर और उसका उच्चारण विधान-

4.2.9 अवग्रह में स्वर विचार

4.2.10 स्वर के उच्चारण में दोष

4.2.11 स्वरित विशेषों में कम्प विधान

4.3 सारांश

4.4 शब्दावली

4.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.6 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- स्वर तथा उनके स्वरूप, उच्चारण एवं प्रकार के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- वैदिक वाड्मय में स्वरों के महत्त्व को समझ पाएंगे।
- स्वर के प्रभाव से शब्दों के सार्थकत्व अनर्थकत्व के विषय में अवगत होंगे।

4.1 प्रस्तावना

वैदिक वाङ्गमय में स्वरों का विशेष महत्त्व है। वेद मन्त्रों के अर्थ-परिज्ञान के लिए स्वर ज्ञान

अत्यावश्यक है, क्योंकि स्वर के ज्ञानाभाव में अर्थ का अनर्थ हो जाता है तथा क्रियमाण यज्ञ कर्म भी पूर्ण फल प्रदायक सिद्ध नहीं होते हैं। इन्द्र वृत्रासुर दृष्टान्त के द्वारा महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि स्वर विधि के ज्ञान के अभाव में मन्त्र अनर्थक होकर यजमान का ही सर्वनाश कर देता है जिस प्रकार इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर स्वर के अपराध के कारण अपने ही द्वारा किए गए यज्ञ के फलस्वरूप मारा गया।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुःस्वरतोपन्राधात्॥ [1]

निघण्टुकार स्वर की निरूक्ति करते हुए लिखते हैं-

स्वर्यन्ते अर्था एभिः इति स्वराः।

अर्थात् जिन के माध्यम से पदों के अर्थ प्राप्त होते हैं वे स्वर कहलाते हैं। महाभाष्यकार स्वरों को अर्थ का परिचायक, प्रकाशक मानते इस स्वर की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं

स्वयं राजन्ते इति स्वराः।

ऋग्वेद भाष्यकार वैंकटमाधव भी स्वर महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अन्धेरे में जिस प्रकार दीपक की सहायता से लक्ष्य प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं होता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से प्राप्त वेदार्थ स्पष्ट संशय रहित होता है।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर व्यवस्था को शाबरभाष्यकार ने भी मन्त्रों के स्पष्टार्थ ज्ञान के लिए माना है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से वैदिक साहित्य के स्वरों का विशिष्ट महत्त्व नितान्त सिद्ध होता है।

प्रकृत में ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार स्वरों का विवेचन संक्षेप में निम्नवत् है:

4.2 उदात्तानुदात्तस्वरितवर्णनम्

इस प्रकरण में हम उदात्त आदि स्वरों का विशेष रूप से परिचय प्राप्त करेंगे। सर्वपथम स्वरों की संख्या और उनके उच्चारण के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं।

4.2.1 स्वराणां संख्या उच्चारण-प्रकारश्च

उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयामविश्रम्भाक्षेपैः रत उच्यन्ते ॥

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के स्वरपटल में स्वरों की संख्या तीन बतलायी गयी है:

1 उदात्त 2 अनुदात्त 3 स्वरित

स्वरों की संख्या के विषय में आचार्यों में बहुत मतभेद है। कहीं सात, कहीं पाँच, कहीं चार, कहीं तीन, कहीं दो और कहीं एक ही 'स्वर' माना गया है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में

[1] म. भाष्य आह्निक 1

[2] शाबरभाष्य 9/2/31

स्वरों की संख्या सात बतलाई है **"सप्त स्वरा भवन्ति उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः स्वरितः स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः एकश्रुतिः सप्तम"** अर्थात् 'स्वर' सात होते हैं 'उदात्त', 'उदात्ततर', 'अनुदात्त', 'अनुदात्ततर', 'स्वरित', 'स्वरित' के पूर्व में स्थित 'उदात्त' और 'एकश्रुति'।

ध्यानपूर्वक विचार करने से विदित हो जाता है कि मुख्य 'स्वर' तीन ही है 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित' पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'उदात्ततर' और 'स्वरित' से पूर्व में स्थित 'उदात्त 'उदात्त' के ही अन्तर्गत है; 'अनुदात्ततर' 'अनुदात्त' के ही अन्तर्गत है। 'एकश्रुति' भी 'उदात्त' और 'अनुदात्त' से भिन्न 'स्वर' नहीं है। 'स्वरित' के बाद में आने पर 'अनुदात्त' ही 'एकश्रुति' हो जाता है और इस 'एकश्रुति' का उच्चारण 'उदात्त' के ही समान होता है। उपर्युक्त तथ्य की दृष्टि में रखकर ही प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि 'उदात्त' 'अनुदात' और 'स्वरित' ये तीन 'स्वर' हैं[3]।

अब उन तीन स्वरों को समझाने के लिए सूत्रकार कहते है- **आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते-**

इन तीनों स्वरों का उच्चारण क्रमशः आयाम, विश्रम्भ, आक्षेप से होता है। इसी स्थल को उव्वटभाष्यकार विस्तार से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि तीनो स्वरों में उदात्त का उच्चारण आयाम होता है। आयाम का अर्थ है वायु के कारण उच्चारणावयवों का ऊपर से (ऊर्ध्वगमन) जाना जैसे आ, ये, आदि। भाष्यकार लिखते हैं **आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्चते स उदात्तः** [4]

अनुदात्त का विश्रम्भ (से उच्चारण होता है। (अधोगमन

विश्रम्भ का अंर्थ है वायु के कारण उच्चारणावयवों का ढीलापन नीचे जाना जैसे नः, नौ, जैसा कि मूल में भाष्यकार विश्रम्मो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।[5]

स्वरित का उच्चारण आक्षेप (से होता है। आक्षेप से आशय उच्चारणावयवों का (गमन तिर्य हो जाने से है वायु के कारण तिरछा, जैसे **क्व न्यक्। आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।**[6]

उदात्त और अनुदात्त धर्मों का सम्मिश्रण अर्थात् गात्रों के ऊर्ध्वगमन उदात्त एवं अधोगमन अनुदात्त इन दोनो प्रयत्नो के समाहार से जो उच्चरित स्वर वह स्वरित कोटि में समाहित होता है।[7]

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में स्वरित को अभिघात भी कहा गया है। स्वरित स्वर में आधी मात्रा उदात्त और शेष अनुदात्त की जाननी चाहिए। भाष्यकार स्वरित को एक दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे सीसे और ताम्र के संयोग से कांसा उत्पन्न होता है वैसे ही उदातत्व और अनुदात्तत्व धर्म के सम्मिश्रण से स्वरित उत्पन्न होता है।[8]

इसी बात को सिद्धान्तकौमुदीकार समाहारः स्वरित: इस सूत्र में संकेत करते हैं-

---

[3] ऋ.प्रा. वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 213

[4] उव्वट भाष्यम्

[5] उव्वट भाष्यम्

[6] उव्वटभाष्यकार

[7] वा. प्रा. उव्वटभाष्य

[8] उव्वटभाष्य

स्वरितस्यादितोर्धमुदात्तं पारिशेषाद् अनुदात्तम्।[9]

4.2.2 स्वरों के चिह्न

वेद में उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं निर्धारित है अर्थात् स्वरांकन नहीं है। अनुदात्त स्वर का संकेत अक्षर के नीचे पड़ी रेखा (_) तथा स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) से दर्शाया गया है।

4.2.3 स्वर और अक्षर का सम्बन्ध

अक्षराश्रया:3/2[10]

सूत्रार्थ- सूत्रकार शौनक ने स्वर और अक्षर का धर्म धर्मि सम्बन्ध बललाया है।

उदात्त' 'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के आरोह के साथ होता है। इसके में उच्चारणावयव ऊपर की ओर खिंच जाते हैं। 'अनुदात्त'

'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के अवरोह के साथ होता है। इसमें उच्चारणायव नीचे की ओर शिथिल हो जाते हैं। 'स्वरित' 'अक्षर' का उच्चारण ध्वनि के आरोह और अवरोह से होता है। 'स्वरित' के 'उदात्त' अंश के उच्चारण में उच्चारणावयवों का आरोह होता है और 'अनुदात्त' अंश के उच्चारण में उच्चारणावयवों का अवरोह होता है।

वैदिक ग्रन्थों में 'उदात्त' आदि स्वरों की पहचान के लिए चिह्न लगे रहते हैं। वे चिह्न सब ग्रन्थों में समान नहीं हैं। ऋग्वेद में 'उदात्त' पर कोई भी चिह्न नहीं लगाया जाता है। 'अनुदात' के नीचे एक पड़ी रेखा लगाई जाती है और (-)'स्वरित' के सिर पर एक खड़ी रेखा (+) लगाई जाती है। 'उदात्त' की भांति 'प्रचय' पर भी कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। दोनों का कोई चिह्न न होने के कारण 'उदात्त' और 'प्रचय' को पहचान करने में कठिनाई हो सकती है। इनकी पहचान यह है - 'स्वरित' के बाद में स्थित बिना चिह्न वाला 'प्रचय' होता है। जबकि 'अनुदात्त' के बाद में स्थित बिना चिह्न वाला वर्ण 'उदात्त' होता है। यदि किसी बिना चिह्न वाले वर्ण के पूर्व में न 'स्वरित' हो और न 'अनुदात्त' तो वह भी 'उदात्त' होता है।[11]

स्वरोऽक्षरमित्युक्तम्[12]

स्वर को ही अक्षर कहा जाता है।

उदात्तानुदात्तस्वरित स्वर अक्षर (स्वरवर्ण) पर आश्रित होते हैं। उदात्तादि स्वर अक्षराश्रित होते हैं न कि व्यञ्जनाश्रित ऐसा महाभाष्यकार मानते हैं।

4.2.4 सन्धि में स्वर की निष्पत्ति

एकाक्षरसमावेशे पूर्वयो: स्वरित:स्वर: 3/3[13]

---

[9] सि.कौ. सूत्र सं. 1/2/31

[10] ऋ.प्रा. पटल 3

[11] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 214

[12] उव्वत भा.ऋ.प्रा. पटल 3 सू.2

[13] ऋ.प्रा. पटल 3

इस सूत्र के अनुसार एक ही अक्षर में उदात्त और अनुदात्त स्वरों का समावेश होने पर स्वरित स्वर उत्पन्न होता है।

उदाहरण- ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्।

उदात्त' आदि 'स्वर' 'स्वर' वर्णों के ही धर्म है, व्यञ्जन वर्णों के नहीं; क्योंकि 'स्वर'-वर्णों का ही बिना किसी अन्य वर्ग की सहायता के उच्चारण हो सकता है। जिन 'व्यञ्जन वर्णों का अन्य वर्ण 'स्वर'-वर्ण की सहायता के उच्चारण भी नहीं हो सकता, उनमें 'उदात्त' आदि उच्चारण-धर्म कैसे रह सकते हैं ? ते। अवर्धन्त। स्वतवसः ॥

ब्रह्मणः। अस्य। मुर्खम्। आसीत्॥ स्रुचिऽइंव। घृतम्। चविइव॥ त्रिऽअम्बकम्। यजामहे ॥ दुन्नः। सुपिःऽअसुतिः। इन सभी उदाहरणों में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' का एक 'अक्षर' में समावेश होने पर 'स्वरित' 'स्वर' निष्पन्न हो गया है।[14]

4.2.5 स्वरित का उच्चारण प्रकार

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा 3/4[15]

इस सूत्र के अनुसार प्रकरण गत स्वरित स्वर की आधी मात्रा उदात्त से उच्चतर (उदात्ततर) उच्चरित होता है

उदाहरण त्र्यम्बकम्।

सूत्रार्थअंश उदात्त के समान श्रवण होता है। स्वरित का पर वाला अवशिष्ट अनुदात्त -

अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः॥[16]

अर्थात् परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्त उदात्त के समान श्रवण होता है।

उदात्त' और 'अनुदात्त' के सम्मिश्रण से 'स्वरित' 'स्वर' निष्पन्न होता है। 'उदात्त' और 'अनुदात्त' का यह सम्मिश्रण नीर-क्षीर (दुग्ध जल) के सम्मिश्रण के सदृश न होकर तिल-तण्डुल अथवा काष्ठ-जतु के सम्मिश्रण के सदृद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि स्वरित' में 'उदात्त' तथा 'अनुदात्त' धर्मो का सम्मिश्रण सभी अवयवों में समान रूप से नहीं होता है। उस ('स्वरित') के आदि भाग में 'उदात्त' धर्म रहता है और बाद वाले आधे भाग में 'अनुदात्त' धर्म रहता है। 3/4 में यह विधान किया गया है कि 'स्वरित' की आधी मात्रा अथवा 'स्वरित' का आधा भाग 'उदात्त' से उच्चतर उच्चारित होता है। यदि 'ह्रस्व' 'अक्षर' 'सरित' है तो उस 'सरित' की पूर्ववर्ती आधी मात्रा ('उदात्त' अंश) ('उदात्त' से उच्चार उच्चारित होती है और अवशिष्ट आधी) 'अनुदात्त' अंश ('उदात्त' के समान उच्चारित होती है। यदि 'दीर्घ' 'अक्षर' 'स्वरित' है तो उस स्वरित' का पूर्ववर्ती आधा भाग अर्थात् एक मात्रा) 'उदात्त' अंश ('उदात्त' से उच्चतर उच्चारित है और अवशिष्ट आधा भाग अर्थात् एक मात्रा) 'अनुदात्त' अंश ('उदात्त' के समान उच्चारित होती है।)[17]यह उदात्तश्रुति तभी होगी जब परवर्ती स्वर उदात्त अथवा स्वरित न हो। जैसा कि सूत्र कहता है-

स चेत् उदात्तं वोच्चते किञ्चित् स्वरित वाक्षरं परम्।[18]

---

[14] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 215

[15] ऋ.प्रा. पटल 3

[16] ऋ.प्रा. पटल 3/5

[17] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 216

[18] ऋ.प्रा. पटल 3/6

उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्।[19]

यदि एक ही पद में पूर्व में उदात्त स्वर हो तो उसके बाद स्थित स्वरित अनुदात्त हो जाता है।

भाष्यकार ने 'उदात्त' और 'अनुदात्त' के सम्मिश्रण से जायमान 'स्वरित' की उत्पत्ति को समझाने के लिये त्रपु और ताम्र के सम्मिश्रण से जायमान काँसा नामक धातु का जो दृष्टान्त दिया है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। काँसे के प्रत्येक अवयव में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य होता है। इसके विपरीत स्वरित' के प्रत्येक अंश में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' धर्मों का सम्मिश्रण समान रूप से अविभाज्य नहीं होता। 'स्वरित' के आदि भाग में 'उदात्त' अंश होता है और बाद में 'अनुदात्त' अंश होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कांस में त्रपु और ताम्र का सम्मिश्रण नीर के सदृश होता है क्षीर, जबकि 'स्वरित' में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' धर्मों का सम्मिश्रण तिल-तण्डुल अथवा जतुक सदृश होता है- काष्ठ।[20]

- ते। अधून्त। प0 पा0
- द्विविऽईव। चक्षुः ॥
- ब्रुअंनः। स पिऽअसुतिः ॥

इन तीनों स्थलों में संहिता पाठ में 'स्वरित' के बाद में न तो 'उदात्त' है और न स्वरित' है, इसलिए इन 'स्वरित' स्वरों के 'अनुदात्त' अंश 'उदात्त' के समान उच्चारित होते हैं।

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रप्रश्लिष्ट एव च। :
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः।।

इस कारिथा में यह विधान किया गया है कि 'उदात्त' और 'स्वरित' ('जात्य स्वरित') बाद में होने पर 'जात्य', 'अभिनिहित', 'क्षेत्र' और 'प्रश्लिष्ट' स्वरितों का उच्चारण 'कम्प' के साथ होता है। 3।4 के अनुसार उक्त 'जात्यादि' चार प्रकार के 'स्वरित' का प्रारम्भ वाला 'उदात्त' अंश उदात्ततर उदात्त' से भी उच्चतर उच्चारित होता है और 3.36 के अनुसार उक्त 'स्वरित' का अवशिष्ट 'अनुदात्त' अंश 'अनुदात्त' उच्चारित होता है। यदि बाद में 'उदात्त' हो तो पहले वाले उदात्ततर और बाद वाले 'उदात्त' उच्चारणों के बीच में 'अनुदात्त' का उच्चारण करने में कठिनाई होना स्वाभाविक है क्योंकि 'स्वरित' के प्रथम ('उदात्त') अंश का उदात्ततर के रूप में उच्चारण करने के तुरन्त बाद ही 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण करने के लिए जिह्वा को नीचे उतरना पड़ता है। और परवर्ती 'उदात्त' का उच्चारण करने के लिए जिह्वा को पुनः तुरन्त ही ऊपर चढ़ना पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण झटके के साथ होता है। इस झटके को ही 'कम्प' कहते हैं। इसी प्रकार 'स्वरित' ('जात्य स्वरित') बाद में आने पर भी पूर्ववर्ती 'स्वरित' का 'अनुदात्त' अंश 'कम्प' के सहित उच्चारित होता है क्योंकि 'स्वरित' का प्रारम्भ वाला 'उदात्त' अंश उदात्ततर उच्चारित होता है।

यदि यह 'कम्प' 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' के 'अनुदात्त' अंश में होवे तो कम्प यदि यह 'कम्प' 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' के 'अनुदात्त' अंश में होवे तो कम्प को दिखलाने के लिए 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' के बाद में एक (1) संख्या को लिखते हैं और उस संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (1) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया जाता है। जैसे— न्यन्यम् में पूर्ववर्ती 'न्य' 'क्षेत्र स्वरित'

[19] ऋ.प्रा. पटल 3/7

[20] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 217

और परवर्ती 'न्य' 'उदात्त' है, अतः 'न्य' के 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण 'कम्प' सहित 'अनुदात्त' होता है। यहाँ 'कम्प' 'ह्रस्व' 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश में है, इसलिए 'ह्रस्व' 'स्वरित' 'अक्षर' 'न्य' के बाद में एक (1) संख्या को लिखा गया है और संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (1) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया गया है। परन्तु यदि यह 'कम्प' 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' 'अनुदात्त' अंश में होवे तो कम्प को दिखलाने के लिए 'दीर्घ' 'स्वरित''अक्षर' के बाद में तीन संख्या को लिखते हैं और उस संख्या के ऊपरसं 'स्वरित' का चिह्न (1) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया जाता है। 'स्वरित' 'अक्षर' के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया जाता है। जैसे— "अभीरुदम्" में 'भी' 'प्रश्लिष्ट स्वरित' और 'द' 'उदात्त' है' अतः 'भी' के 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश का उच्चारण कम्प-सहित 'अनुदात्त' होता है। यहाँ 'कम्प' 'दीर्घ' 'स्वरित' के 'अनुदात्त' अंश में है, इसलिए 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' 'भी' के बाद में तीन (3) संख्या को लिखा गया है और संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (1) तथा नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया गया है। 'दीर्घ' 'स्वरित' 'अक्षर' के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न (-) लगाया गया है।[21]

अतोऽन्त्यस्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे।।[22]

सूत्रार्थ-एक पद में उदात्त पूर्वक जो स्वरित स्वर है उससे अन्य स्वरित स्वर जात्य स्वरित कहलाता है

उभाभ्यां तु परं विधताभ्यामुदात्तमक्षरम्।।[23]

सूत्रार्थ- उदात्त पूर्व स्वरित व जात्यस्वरित इन दोनो से पर में अनेक अनुदात्त अक्षर भी उदात्तश्रुति उदात्त के समान सुना जानेवाला समझना चाहिए।

न चेत् पूर्वं तथागतात्।।[24]

स्वरित अक्षर के बाद वर्तमान अनुदात्त अक्षर उदात्त श्रुति उसी अवस्था में माना जायेगा जहाँ अनुदात्त अक्षर के बाद उदात्त अक्षर तथा स्वरित अक्षर न हो।

उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं संध्यमक्षरम्।।[25]

सूत्रार्थ- या पर वाला कोई भी एक उदात्त हो तो दो स्वरों में यदि पूर्व वहाँ सन्धि ने परकार्य हो सन्ध्यक्षर उदात्त ही माना जायेगा।

अनुदात्तोदये पुनः स्वरितं स्वरितोपधे।।[26]

सन्ध्यक्षर के पूर्व में स्वरित और पर में अनुदात्त होने पर सन्धिज अक्षर स्वरित होता है।

4.2.6 स्वर विधान में शाकल्य मत

इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च।
उदात्तपूर्वं रूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्।।3/13[27]

---

[21] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 218
[22] ऋ.प्रा. पटल 3/8
[23] ऋ.प्रा. पटल 3/9
[24] ऋ.प्रा. पटल 3/10
[25] ऋ.प्रा. पटल 3/11
[26] ऋ.प्रा. पटल 3/12
[27] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/13

दो इकार वर्णों की प्रश्लिष्ट सन्धि होने पर क्षैप्र और आभिनिहित सन्धि में उदात्त पूर्व में और अनुदात्त पर में होने पर शाकल्य ऋषि के मत में स्वरित का निर्देश समझना चाहिए।

माण्डूकेयमत-

माण्डुकेयस्य प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्॥[28]

सूत्रार्थ - प्रकृत सूत्र से माण्डूकेय मत का अभिधानकरते हुए लिखते हैं कि सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में पूर्व में स्थित उदात्त और 5रवर्ती अनुदात्त मिलकर स्वरित हो जाते हैं।

उपर्युक्त नियम धर्म एक हो जाने वाले अक्षरों के जानने चाहिए। **इत्येकीभाविनां धर्मः।।3/15**[29]

सूत्रम - परैप्रथमभाविन [30]

सूत्रार्थ-बाद में आने वाले उदात्तों के साथ जो सन्धियाँ होती हैं उनमें सन्धिकार्य से निष्पन्न अक्षर प्रथम उदात्त ही होता है।

उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यज्यनेन वा।

स्वर्यतेन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्।।3/17[31]

अर्थात् मध्य में विवृति अथवा व्यञ्जन का व्यवधान होने पर उदात्त अक्षरके पर में स्थित अनुदात्त अक्षर भी स्वरित माना जाता है।

4.2.7 सन्धिज स्वरों का संज्ञा विधान

वैवृततैरोव्यञ्जनौ क्षैप्राभिनिहितौ च तान्।

प्रश्लिष्टं च यथासन्धि स्वरानाचक्षते पृथक्।। 3/18[32]

सूत्रार्थ- सन्धिको अनुसार उन स्वरित स्वरों यों के पृथक्तया वैवृत, तैरोव्यञ्जन, क्षैप्र, अभिनिहित, और प्रश्लिष्ट के नाम से जाना जाता है।

स्वरान्तरं तु विवृतिः[33] में कहा जा चुका है कि संहिता में दो 'स्वर' वर्णों के मध्य में विद्यमान काल के व्यवधान को 'विवृत्ति' कहते हैं। ऐसे स्थानों में पदान्त 'उदात्त' 'स्वर' से परे जहाँ पदादि 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है, उसे 'वैवृत्त स्वरित' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहरे 'विवृत्ति' का व्यवधान होने पर भी पदान्त 'उदात्त' के कारण पदादि 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जाता है। उसे 'वृत्त स्वरित' कहते हैं।

जहाँ 'व्यञ्जन' का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती 'उदात्त' के कारण परवर्ती 'अनुदात्त' 'स्वरित' हो जावे उस 'स्वरित' को 'तेरोव्यञ्जन स्वरित' कहते हैं। मध्य में आधी मात्रा वाले 'व्यञ्जन' का व्यवधान होने पर ऐसे स्थलों पर 'स्वरित' की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु 3।17 में ऐसे स्थलों पर 'स्वरित' होने का विधान कर दिया गया है। व्याकरण में इस कार्य की सिद्धि इस परिभाषा के

[28] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/14

[29] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/15

[30] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/16

[31] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/17

[32] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/18

[33] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 2/3

द्वारा की गई है—"स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति" जिसका अर्थ है कि स्वरविधि में 'व्यञ्जन' को अविद्यमानवत् माना जाता है-' व्यञ्जन' का "व्यवधान नहीं माना जाता है। 'तेरोव्यञ्जन स्वरित' को 'व्यञ्जन- व्यवहित स्वरित' भी कहा जा सकता है।[34]

4.2.8 संहिता में प्रचय स्वर और उसका उच्चारण विधान

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा।। 3/19[35]

अर्थात् यदि स्वरित के बाद में अनुदात्त हो तो वह प्रचय स्वर कहलाता है, और प्रचय स्वर में परिवर्तित ऐसे अनुदात्त एक या अनेक परे होने पर भी अनुदात्त का उदात्त के समान श्रवण होता है।

4.2.9 अवग्रह में स्वर विचार

यथासंधीयमानानामनेकीभवतां स्वरः।
उपदिष्टस्तथा विधादक्षराणामवग्रहे।।[36]

सूत्रार्थ - सन्धिहोने पर भी एक न होने वाले अक्षरों की जो स्वर व्यवस्था उपदिष्ट है वही कार्य स्वर व्यवस्था अवग्रह होने पर भी समझनी चाहिए।

आभिप्राय यह हुआ कि विवृति एवं व्यञ्जन के समान अवग्रह भी अविद्यमानवत् समझनी चाहिए।

4.2.10 स्वर के उच्चारण में दोष

असन्दिग्धान्स्वरान्ब्रूयात्।।3/29

इस सूत्र के अनुसार ग्रन्थ कार उदात्त आदि स्वरों का विवेचन करने के बाद उनके उच्चारण के सूत्रार्थ यह है कि उदात्त अनुदात्त स्वरित एवं प्रचय स्वरों का -विषय में निर्देशित कर रहे हैं उच्चारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कोई संदेह ना हो अर्थात् उच्चारण स्पष्ट एवं संदेह रहित होना चाहिए।

अविकृष्टान्।। 3/30[37]

सूत्र से यह संकेत किया गया है कि- स्वरों की स्वरों के साथ सन्धि होने पर उनका उच्चारण अलग अलग नहीं होना चाहिए।

जब स्वर का स्वरों के साथ अच्छी तरह नहीं मिलते हैं तो उसे विकर्ष कहते हैं अच्छी तरह से उपश्लिष्ट होना अविकृष्ट कहलाता है अर्थात् स्वर सन्धियों को उपश्लिष्ट ((मिलाकर उच्चारण करना चाहिए।

---

[34] ऋ.प्रा.वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ. 230
[35] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/19
[36] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/24
[37] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/30

अकम्पितान्।। 3//31

सूत्र से पुनः यह बताया गया है कि- स्वरों का उच्चारण अकम्पित कम्प-दोष रहित होना चाहिए।

स्वरितं नातिनिर्हण्यात्।। 3/32

सूत्र से यह विधान स्वरित स्वरों के उच्चारण के समय अत्यधिक खींचना नहीं चाहिए, अभिप्राय यह है कि उदात्त और अनुदात्त को आयाम नीचे तथा विश्रम्भ ऊपर से अत्यधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए।

4.2.11 स्वरित विशेषों में कम्प विधान

जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः।।3/35[38]

अर्थात् यदि उदात्त और स्वरित बाद में विद्यमान हो तो जात्य अभिनिहित क्षैप्र प्राश्लिष्ट ये स्वर कम्प कहलाते हैं।

4.3 सारांश

- वेद मन्त्रों के अर्थपरिज्ञान के लिए उदान्त, अनुदान्त और स्वरित स्वर ज्ञान अत्यावश्यक है।
- उदात्त का उच्चारण आयाम (ऊर्ध्वगमन) से होता है। आयाम का अर्थ है वायु के कारण उच्चारणावयवों का ऊपर जाना।
- अनुदात्त का विश्रम्भ (अधोगमन) से उच्चारण होता है। विश्रम्भ का अंर्थ है वायु के कारण उच्चारणावयवों का ढीलापन नीचे जाना।
- स्वरित का उच्चारण आक्षेप (तिर्यग्गमन) से होता है। आक्षेप से आशय उच्चारणावयवों का वायु के कारण तिरछा हो जाने से है।
- आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।
- वाजसनेयि प्रातिशाख्य में स्वरित को अभिघात कहा गया है।
- वेद में उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं निर्धारित है अर्थात् स्वरांकन नहीं है।
- अनुदात्त स्वर का संकेत अक्षर के नीचे पड़ी रेखा(_) है।
- स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) से दर्शित किया गया है।

4.4 शब्दावली

- दृष्टान्त = उदाहरण
- अवग्रह = खण्डाकार
- कम्प = दोष रहित

[38] ऋक्प्रातिशाख्य पटल 3/35

- अविद्यमानवत् = विद्यमान रहित
- सन्धिज = सन्धि से उत्पन्न

4.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित - (व्याख्या.) वीरेन्द्र कुमार वर्मा
- वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - (सम्पा.) वि. वेंकटराम शर्मा
- पाणिनिव्याकरणसूत्राष्टाध्यायी
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - (हिन्दी व्याख्या.) गोपालदत्त पाण्डेय
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर ऋषि
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गौरेला
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय
- ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - (शोधकर्ता) नेत्रा श्रीवास्तव
- महाभाष्यम्

4.6 बोध प्रश्न

1. स्वर कितने हैं ?
2. स्वरों का उच्चारण प्रकार निर्दिष्ट की कीजिए।
3. संहिता में प्रचय स्वर कौनसा है ?
4. वाजसनेयि प्रातिशाख्य में स्वरित को क्या कहा गया है ?

इकाई 5 प्रातिशाख्यों के अनुसार स्वर-व्यञ्जन सन्धि

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 स्वर व्यञ्जन सन्धियाँ

- 5.2.1 संहिता का अधिकार
- 5.2.2 संहिता का स्वरूप
- 5.2.3 विवृति का स्वरूप (व्यवधान)
- 5.2.4 विवृति काल
- 1.2.5 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में विहित सन्धि विषयक-परिभाषा सूत्र
- 5.2.6 स्वर-व्यञ्जन सन्धि के प्रकार
- 5.2.7 अनुलोम अन्वक्षर सन्धि
- 5.2.8 प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि

5.3 स्वर सन्धि

- 5.3.1 प्रश्लिष्ट सन्धि
- 5.3.2 क्षैप्र सन्धि
- 5.3.3 उद्ग्राह सन्धियाँ
- 5.3.4 भुग्न सन्धि
- 5.3.5 अभिनिहित सन्धि
- 5.3.6 प्रकृतिभाव सन्धि
- 5.3.7 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्रकृतिभाव विधान
- 5.3.8 अनानुपूर्व्यसंहिता वर्णन
- 5.3.9 द्विषंधि विवृत्ति वर्णन

5.4 अवशंगम आस्थापित सन्धि

5.5 वशंगम आस्थापित सन्धि

- 5.5.1 परिपन्त सन्धि
- 5.5.2 परिपन्नवशंगम सन्धि

5.6 विसर्जनीय सन्धि

- 5.6.1 विसर्जनीय का रेफ
- 5.6.2 नियत सन्धि
- 5.6.3 प्रश्रित सन्धि
- 5.6.4 रेफ सन्धि
- 5.6.5 व्यापन्न सन्धि
- 5.6.6 विक्रान्त सन्धि

5.6.7 अन्वक्षरवक्त्र सन्धि-
5.6.8 उपाचरित सन्धि
5.6.9 नकार के विकार
5.6.10 रेफ का आगम
5.6.11 शकार का आगम
5.6,12 षकार का आगम
5.6.13 सकार का आगम
5.6.14 ककार एवं तकार का आगम
5.6.15 चकार का आगम
5.6.16 नति सन्धि
5.6.17 सकार का मूर्धन्यभाव
5.6.18 सामवश सन्धि
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
5.10 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- वैदिक सन्धियों से परिचित होंगे।
- प्रातिशाख्योक्त सन्धि सूत्रों का ज्ञान करेंगे
- सन्धि के नियमों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सन्धि के नियमों की व्याख्या कर सकेंगे।
- वाजसनेयि प्रातिशाख्य में विहित सन्धि विषयक-परिभाषा सूत्रों को बता सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

सन्धानमिति सन्धि: सम् उपसर्ग पूर्वक धा धातु से किः प्रत्यय करने पर सन्धि शब्द व्युत्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार सन्धि का अर्थ मेल या जोड़ होता है। पाणिनि व्याकरण में सन्धि को संहिता के विषय में होना बताया गया है और संहिता को **"पर: सन्निकर्ष: संहिता"**[1] सूत्र से कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जब वर्णों की अत्यन्त निकटता (आधी मात्रा से अतिरिक्त व्यवधान शून्य) होती है तब संहिता संज्ञा होती है, और संहिता के विषय में सन्धि का विधान किया जाता है। सन्निहित (अत्यन्त निकट) वर्णों का विकार सहित या विकार रहित योग या जोड़ सन्धि कहा जा सकता है।

[1] पा. सू. 2/4/109

सन्निहितयोर्वर्णयोर्विकारेणाविकारेण वा योग:।

सन्धि के विषय में कहा भी गया है कि अत्यन्त निकट (समीप) में स्थित वर्णों के योग में जो परिवर्तन होता है उसे सन्धि कहते हैं। वह परिवर्तन कहीं वर्ण लोप, कहीं आगम, कहीं आदेश से तो कहीं पर प्रकृति के रूप में ही अवस्थिति से होता है इस तरह पाँच प्रकार से सन्धि को बताया गया है-

वर्णयो:सन्निहितयोर्योग: सन्धि स पञ्चधा।
तत्र लोपागमादेशाः क्वचित्तु प्रकृतौ स्थिति:।।

ऋग्वेद प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक ने भी संहिता को ही सन्धि की मूल प्रकृति के रूप में स्वीकार कर सन्धि को परिभाषित किया है।

सन्धि की परिभाषा के क्रम में आचार्य शौनक ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य में एक सूत्र प्रस्तुत किया है-

संहिता पदप्रकृति: अर्थात पदों की सन्धि रूप मूल प्रकृति संहिता है जहाँ संहिता (वर्णों की अत्यन्त निकटता) होगी वहीं पर सन्धि का विधान किया जाता है। प्रातिशाख्य ग्रंथों में दो स्वरों के मध्य अवकाश को विवृत्ति कहा जाता है जहाँ सन्धि का विधान नहीं होता है वहाँ भी विवृत्ति हो जाती है।

दो 'स्वर' वर्णों के मध्य में सन्धि का स्थल होते हुए भी सन्धि नहीं होती वहाँ उच्चारण करते समय काल का व्यवधान होता है। पदान्त के उच्चारण तथा पदादि के उच्चारण के मध्य में विद्यमान इस काल के व्यवधान को ही 'विवृत्ति' कहते हैं।। याज्ञवल्क्य शिक्षा में 'विवृत्ति' के स्वरूप के विषय में यह कहा गया है-

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धियंत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया य ईशेति निदर्शनम्[2]**।।**

'विवृत्ति' वैदिक सन्धि की मुख्य विशेषता है। लौकिक संस्कृत में जहाँ साधारणतया सन्धि होती है वहाँ पर वैदिक संस्कृत में अनेक स्थलों पर 'स्वर' वर्णों के मध्य में सन्धि न होकर 'विवृत्ति' हो जाती है।

'संहिता' पदों पर आधारित है। पदों के मिलने से ही 'संहिता' का निर्माण होता है। यही कारण है कि पदों को 'संहिता' का मूल प्रकृति माना जाता है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थ मुख्यतः उन नियमों का विधान करते हैं जिनकी सहायता से पदों से 'संहिता' सम्पन्न होती है। इस विषय में अथर्व प्रातिशाख्य में कहा गया है - **"यथा तन्तूनां वासो यथा दारुशिलामृदां प्रासादस्तथा च सन्धिशास्त्राणि पदसंघानार्थं प्रोक्तानि**" अर्थात् जिस प्रकार तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है और जिस प्रकार लकड़ी, पत्थर और मिट्टी से प्रासाद का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार सन्धि के नियम 'संहिता' के निर्माण के लिए पदों को मिलाने के लिए प्रोक्त हैं।[3]

मुख्य रूप से सन्धि के तीन भेद है- स्वर सन्धि, व्यञ्जन सन्धि, और विसर्ग सन्धि, यहाँ पर स्वर और व्यञ्जन सन्धि का वर्णन प्रातिशाख्य शास्त्रों के अनुसार प्रस्तुत है-

---

[2] याज्ञवल्क्य शिक्षा .
[3] ऋग्वेद प्रातिशाख्य हिंदी व्याख्याकार वीरेन्द्र कुमार वर्मा

5.2 स्वर व्यञ्जन सन्धियाँ

सन्धि का विधान करने के लिए संहिता का विषय होना नितान्त अपेक्षित है। वस्तुतः संहिता ही सन्धि कहलाती है। वैदिक मन्त्रों के पद पाठ का सन्धि नियमों के आधार पर ही संहिता पाठ किया गया है।। अतः संहिता प्रातिशाख्य या मुख्य प्रतिपाद्य विषय बन जाता।

5.2.1 संहिता का अधिकार

सूत्रम्- **संहिता पदप्रकृतिः।।**[4]

सूत्रार्थ- सन्धि प्रकरण में संहिता का अधिकार चलता है। पद मूल प्रकृति हैं जिसका वह संहिता है। प्रातिशाख्य में संहिता का अधिकार सीमा पटल (द्वादश पटल) के पूर्व तक रहता है।

5.2.2 संहिता का स्वरूप

सूत्रम्- **पदान्तान्पदादिभिः संवदेति यत्सा कालाव्यवायेन।**[5]

सूत्रार्थ- संहिता की मूलप्रकृति पद है, और पदान्त (पद के अन्त में विद्यमान अक्षर) का पदादियों (पद के आदि मे विद्यमान अक्षर) के साथ बिना किसी काल व्यवाय के मेल करना ही संहिता है।

इसी विषय को भट्टोजि दीक्षित सिद्धान्त कौमुदी में लिखते हैं वर्णों की अतिशय सन्निधि संहिता कहलाती है।[6]

उव्वट भाष्यकार मूल में लिखते है - **पदान्तादिभिः यत् एकीकुर्वन्नेति ग्रन्थमनुसरति सा संहितोच्यते।**

भाष्यकार ने आर्षी और क्रमसंहिता ये दो भेद संहिता के बताये हैं।[7]

5.2.3 विवृति (व्यवधान) का स्वरूप

सूत्रम्- **स्वरान्तरं तु विवृतिः।।**[8]

सूत्रार्थ- काल व्यवधान रहित एकीकरण संहिता शब्द से जाना जाता है, वही व्यवधान (दो स्वर वर्णों के मध्य अवकाश) विवृति कहलाता है।

5.2.4 विवृति काल

सूत्रम्- **सा वा स्वरभक्तिकाला 2/4**[9]

सुत्रार्थ- सा = वह विवृत्ति, वा = विकल्प से स्वरभक्ति के काल वाली होती है।

---

[4] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/1

[5] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/2

[6] सि.कौ.सू. 28

[7] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/2

[8] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/3

[9] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 2/4

5.2.5 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में विहित सन्धि विषयक- परिभाषा सूत्र

पदान्तपदाद्योः सन्धिः।।[10]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में पदान्त और पदादि में सन्धि होती है यथा- आ इदम् = एदम् यहाँ पर पूर्वपद के अन्त में आ है और उत्तर पद के आदि में इकार है। इन दोनों में सन्धि होकर एदम् रूप सिद्ध होता है।

न परकालः पूर्वकाले पुनः।।3/4 [11]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में परकाल की सन्धि के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि नहीं होती।

ह्यन्तराः कालाः॥3/5 [12]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में सन्धि विधानों में हि शब्द के द्वारा काल का निर्धारण किया जाता है। आशय यह है कि सन्धि विधान में पूर्वकाल सन्धि एवं परकाल सन्धि का विभाग हि शब्द के द्वारा किया जाता है।

5.2.6 स्वर-व्यञ्जन सन्धि के प्रकार

संहिता, काल, व्यवधान, आदि सन्धि के आवश्यक पदावलि की चर्चा करने क बाद सन्धि के प्रकार के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं-

भाष्यकार ने सन्धियों के चार प्रकार वर्णित किए हैं।

1. दो स्वर वर्णों की
2. दो व्यञ्जन वर्णों की
3. व्यञ्जन तथा स्वरों की
4. स्वर और व्यञ्जन वर्णों की।

यहाँ इनका विशद विवेचन प्रस्तुत है।

5.2.7 अनुलोम अन्वक्षर सन्धि

सूत्रम्- एषः स्य स च स्वराश्च पूर्वे

भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरे यदैभ्यः॥

तेऽन्वक्षर संधयोऽनुलोमाः[13]**॥**

सूत्रार्थ- एषः स्य स और स्वर वर्ण पूर्व में होने पर तथा व्यञ्जन वर्ण पर (बाद) में हो तो अनुलोम अन्वक्षर सन्धियाँ होती है।

---

[10] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/3

[11] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/4

[12] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/5

[13] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/8

5.2.8 प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि

सूत्रम् - **प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव।।**[14]

सुत्रार्थ- यदि व्यञ्जन वर्ण पूर्व में हो और स्वर वर्ण पर मे होने पर अर्थात् विपर्यय होने पर प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि होती है।

5.3 स्वर सन्धि

जहाँ दो स्वरों के मध्य सन्धि कार्य सम्पन्न होता है वह स्वर सन्धि कहलाती है। स्वर सन्धि के भी भेद प्रभेद होते हैं, जिनका वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

5.3.1 प्रश्लिष्ट सन्धि

प्रश्लिष्ट सन्धि स्वर सन्धि का ही भेद है।

सूत्रम्- **समानाक्षरे संस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्।।**[15]

सूत्रार्थ- दो समानाक्षर स्थान वाले (वर्णमाला के आदि आठ अक्षर) वर्ण परस्पर मिलने पर एक दीर्घ स्वर हो जाता है। अर्थात् पदान्त और पदादि सवर्ण समानाक्षर होने पर दोनों के स्थान पर एक दीर्घ समानाहर जाता है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में प्रश्लिष्ट सन्धि के भी पाँच प्रभेद निर्दिष्ट हैं।

सूत्रम्- **इकारोदय एकारमकार: सोदय:।।**[16]

सूत्रार्थ - इकार परे में हो तो पूर्ववर्ती अकार और इकार मिलकर पूर्व और पर के स्थान पर एकार हो जाता है। इसी विषय को पाणिनिव्याकरण में गुण सन्धि के रूप में **आद्गुण:**[17] सूत्र से बताया गया है।

उदाहरण- **एन्द्र सानसिं रयिम्।।**[18] (आ+ इन्द्र=एन्द्र)।

सूत्रम्- **तथा उकारोदय ओकारम्।। 2/17।।** ऋग्वेद प्रातिशाख्य पटल 2

उसी प्रकार (पूर्वोक्त सूत्रानुसार) उकार पर में हो तो पूर्ववर्ती अकार (अ/आ + उ/ उ = ओ) ओकार हो जाता है। अभिप्राय यह है कि पदान्त अकार के बाद पदादि उकार होने पर ओकार एकादेश हो जाता है। पाणिनि व्याकरण में यह नियम भी गुणसन्धि के रूप में स्थापित हैं। उदाहरण- **एतायामोप गव्यन्त इन्द्रम्।।** ऋग्वेद

(तायाम+उप = एतायामोप)।

सूत्रम्- **परेष्वैकार मोजयो:।।**[19]

---

[14] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/9
[15] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/15
[16] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/16
[17] पा. सू.6/1/67
[18] पा. सू.6/1/67
[19] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/18

सूत्रार्थ- सन्ध्यक्षर बाद में हो तो (प्रथम और तृतीय ओज ए, ऐ,) पूर्ववर्ती अकार अ,आ तथा परवर्ती ए, ऐ के सहित ऐकार हो जाता है। अर्थात् पाणिनि व्याकरण के अनुसार वृद्धि सन्धि हो जाती है - **वृद्धिरेचि**[20] का अर्थ यह है कि यदि अवर्ण के बाद एच् (ए, ऐ, ओ, औ) हो तो वृद्धि रूप एक आदेश हो जाता है। उदाहरण आ + एनम् = ऐनं देवासः।

सूत्रम्- **औकारं युग्मयो: 2/19** [21]

सूत्रार्थ- ओकार, औकार (युग्म) बाद में हो तो पूर्ववर्ती अकार परवर्ती ओकार, औकार के साथ मिलकर औकार हो जाता है।

उदाहरण- यत्रौषधी: समग्मतः।। ऋग्वेद: (यत्र+औषधी:=यत्रौषधी:)

सूत्रम्- **प्रश्लिष्टा माम संधयः।।**[22]

सूत्रार्थ- ये उपर्युक्त पाँचो प्रकार प्रश्लिष्ट सन्धि के नाम से ऋग्वेद प्रातिशाख्य में जाने जाते हैं।

जो पाणिनि व्याकरण में दीर्घ, गुण, वृद्धि वृद्धि सन्धियों के नाम से जाने जाती हैं। इनका विवरण सिद्धान्त कौमुदी में विस्तार से देखा जा सकता है।

5.3.2 क्षैप्र सन्धि

क्षैप्र सन्धि भी स्वर सन्धि का ही एक भेद है जो पाणिनि व्याकरण में यण् सन्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सूत्रम्- **समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्।।**[23]

सूत्रार्थ- कण्ठ्यरहित समानाक्षर (इ, ई, उ, ऊ) स्वर बाद में हो तो अपना अन्तस्थ (इ=य्, उ= व्) हो जाता है।

अर्थात् स्वर परे रहते पदान्त इ, उ के स्थान पर य् व् हो जाता है।

उदाहरण - अभि+ आर्षेयम् = अभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः।

सूत्रम्- **न समानाक्षरे स्वे स्वे।।**[24]

सूत्रार्थ- यदि अपना अपना अकण्ठ्य समनाक्षर बाद में हो तो पूर्ववर्ती अकण्ठ्य समानाक्षर अन्तस्थ नहीं होता है अर्थात् क्षैप्र सन्धि नहीं होती है।

सूत्रम्- **ते क्षैप्राः प्राकृतोदया:**[25]

सूत्रार्थ - अविकृत प्राकृत स्वर परवर्ती (बाद में) हैं जिनके वे क्षैप्र सन्धियाँ कहलाती हैं।

पदवृत्ति सन्धियाँ-

सूत्रम्- **विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वो स्वरोदयः आकारम्।।**[26]

---

[20] पा.सू.6/188
[21] ऋग्वेद प्राति. पटल 2/19
[22] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/20
[23] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/21
[24] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/22
[25] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/23
[26] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/24

सूत्रार्थ- यदि दीर्घ स्वर पूर्व में हो तथा बाद में स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) है। तो अरिफित विसर्जनीय आकार हो जाता है।

सूत्रम्- **उत्तमौ च द्वौ स्वरौ।। 2/25**

सूत्रार्थ- अन्तिम दो स्वर ऐ औ के स्थान पर आकार होता है, स्वर वर्ण पर में अर्थात् बाद में हो तो।

उदाहरण- उभा+ऊँ = उभा उ नूनम्। ऋग्वेद।

सूत्रम्- ताः पदवृत्तयः।। 2/26

सूत्रार्थ- उपर्युक्त (**विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वो स्वरोदयः आकारम्।।2/24**) (**उत्तमौ च द्वौ स्वरौ।। 2/25**) सूत्र द्वय से होने वाली सन्धियाँ पदवृत्ति कहलाती है।

5.3.3 उद्ग्राह सन्धियाँ

सूत्रम्- **ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्।। 2/27**

सूत्रार्थ- ह्रस्व स्वर वर्ण पूर्व में हो तथा अन्य कोई भी स्वर वर्ण परे होने पर अरिफित विसर्जनीय पूर्व में स्थित स्वर के वर्ण के सहित अ हो जाता है।

उदाहरण- यः+ इन्द्रः= य इन्द्र सोमपातमः। ऋग्वेद।

सूत्रम्- **पूर्वौ चोत्तमात्स्वरौ।।**[27]

सूत्रार्थ- उपोत्तम (वर्णमाला में स्थित अन्तिम स्वर वर्ण से पूर्ववर्ती ऐकार) से पूर्व स्थित दो (ए और ओ) को अकार हो जाता है यदि स्वर वर्ण बाद में हो तो।

उदाहरण- अग्ने+इन्द्र= अग्न इन्द्रः।। ऋग्वेद।

सूत्रम्- **त उद्ग्राहाः।। 2/29**

सूत्रार्थ- **ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्।। 2/27**, **पूर्वौ चोत्तमात्स्वरौ।। 2/28** इन सूत्र द्वय से उद्ग्राह सन्धियाँ कही गयी हैं।

सूत्रम्- **दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तयः।। 2/30**

सूत्रार्थ- दीर्घ स्वर पर में हो तो उपर्युक्त ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्।। 2/27, पूर्वौ चोत्तमात्स्वरौ।। 2/28 इन सूत्र द्वय से विहित सन्धि उद्ग्राह ण्दवृत्ति सन्धियाँ कहलाती हैं।

5.3.4 भुग्न सन्धि

सूत्रम्- **ओष्ठययोन्योर्भुग्नमनोष्ठये वकारोऽन्तरागमः।।**[28]

सूत्रार्थ- औष्ठ्य वर्ण है योनि (मूल) जिनकी ऐसे वर्णों के परे ओ, औ औष्ठ्य वर्ण के मूल अ, औ, आ के बाद अगौष्ठ्य वर्ण हो तो मध्य में वकार का आगम होगा और वह भुग्न सन्धि कहलाती है।

उदाहरण- वायो+ आ = वायवा याहि दर्शत। ऋग्वेद।

---

[27] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/28

[28] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/31

सूत्रम्- **ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत्।**[29]

सूत्रार्थ- ऋकार परे होने पर कण्ठ्य अ और आ के स्थान पर अकार होता है। यह उद्ग्राहवत् सन्धि कहलाती है।

उदाहरण- प्र+ ऋभुभ्य: प्र ऋभुभ्यो दूतमिव। ऋग्वेद।

5.3.5 अभिनिहित सन्धि

सूत्रम्- **अथाभिनिहित सन्धिरेतैः प्राकृतवैकृतैः।**

एकीभवति पादादिरकारस्तत्र सन्धिजाः।।2/34

सूत्रार्थ- ऋचा के पाद (चरण) के आदि में विद्यमान अ पूर्ववर्ती ए, ओ, (प्राकृत) एवं ह्रस्व विसर्जनीय संयुक्त होकर एक हो जाता है।

आभिप्राय यह है कि यह अभिनिहित सन्धि के नाम से जाना जाता है।

प्राकृत ए, ओ एवं वैकृत ओ अभिनिहित सन्धि होने पर भी दिखलाई देते हैं परन्तु बाद वाला अकार अदृश्य हो जाता है।

उदाहरण- सुगं तत्ते तावकेभ्यः। ऋग्वेद।

सूत्रम्- **अन्तःपादमकाराच्चेत्संहितायां लघोर्लघु।**

यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा भवेत्।।2/35

सूत्रार्थ- संहिता पाठ में लघु अकार से परे यकार और वकार से प्रारम्भ होने वाला लघु अक्षर हो तो पाद के मध्य में स्थित अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त करता है।

सूत्रम्- **अन्याद्यपि तथायुक्तभावोऽन्तोपहितात् सतः।।**[30]

आवः में समाप्त होने वाले पद से उपहित अभिनिधीयमान अकार से परे यकार और वकार से अन्य व्यञ्जन से प्रारम्भ होने वाला परन्तु उसी प्रकार भुक्त अक्षर हो तो वह अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त हो जाता है।

सूत्रम्- **अयेऽयोऽवेऽव इत्यन्तैरकार सर्वथा भवन्।।2/37**

सूत्रार्थ- अये, अयः, अवे, अवः: इनसे अन्त होने वाले पदों से उपहित अकार सर्वथा अभिनिहित सन्धि वाला हो जाता है।

व इत्येतेन चा न प्रक्वः चित्रः सवितैव कः पदैरूपाहितेनैतेः।।[31]

- आ, न, प्र, क्व, चित्रः सविता एव तथा कः, वः, इन पदों में से किसी एक से भी उपहित अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त होगा।

सर्वैरेवोदयाःपरे।।2/39
अदादवत्रोंऽ जनयन्ताव्यत्या
अभेदयोऽ पाष्टिरवन्त्ववीरता।

[29] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/32

[30] 2.36

[31] 2/38

अमुमुक्तमतयेऽनशामहा
अव त्वचोऽवीरतेऽवांर्यवोऽरथाः।।[32]

सूत्रार्थ- दोनों सूत्रों का तात्पर्य है कि सभी प्रकार के एकार और ओकार (प्राकृत, वैकृत) से परवर्ती अदाद्, अर्वत्र, अजनयन्त, अव्यत्य, अभेत्, अयोऽपाष्टि, अरवन्तु, अवीरता, अमुमुक्तम्, अमतये, अनशामहै, अव, त्वचः, अवीरते, अवांसि, अवः, अरथाः, इन पदों के आदि अकार अभिनिधान होते हैं।

सूत्रम्- वासोवायो ऽ भिभुवे कवष्यः
संक्रन्दनो धीजवनः स्वधाव।
उत्सादत ऋतावः सगर्भ्यो
हिरण्यशृंग इति चोपधाभिः।।[33]

सूत्रार्थ- वासोवायः, अभिभुवे, कवष्यः,संक्रन्दनः, धीजवनः, स्वधावः, उत्सादतः, ऋतावः, सगर्भ्यः, हिरण्यशृंग: इन उपधाओं से अपहित अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त होगा।

सूत्रम्- येऽरा रायोऽघ मेऽधायि
नोऽहिरग्नेऽभिदासति।
जायमानोऽभवोऽग्नेऽयं
नृतोऽपोंऽहो ऽतिपिप्रति।।[34]

सूत्रार्थ- येऽरा', 'रायोऽध', 'मेऽधायि', 'नोऽहिः', 'अग्नेऽभिदासति', 'जायमानोऽभवः', 'अग्नेऽयम्', नृतोऽपः' और 'अंहोऽतिपिप्रति' इन द्वैपदों में अकार का संहितापाठ में यथालिखित अमिनिधान होता है।

जम्भयतोऽद्दि मरुतोऽनुभत्र
यवसेऽविष्यन्त्रयुनेऽजनिष्ट।
वृत्रहत्येऽवीः समरेऽतमाना
मरुतोऽमदनभितोऽनवन्त।।[35]

सूत्रार्थ- 'जम्भ यन्तोऽहिम्', 'मरुतोऽनुभर्त्री, 'यवसेऽविष्यन्', 'वयुनेऽजनिष्ट, 'वृत्रहत्येऽवी, 'समरेऽतमानाः, मरुतोऽमदन' अभितोऽनवन्त इन द्वैपदों में स्थित अकार अनिभिहित होता है।

ब्रुवतेऽध्वँस्त व सेऽवाचि मेऽरपद्
दधिरेऽग्ना नहुषोऽस्भत्पुरोऽभिनत्।
उप तेऽघां वहतेऽयं यमोऽदिति
र्जनुपोऽया सुवितोऽनु श्रियोऽधित।।[36]

- 'प्रयतेऽध्यन, 'तबसेऽवाचि, मेऽरपत् 'दधिरेऽग्ना, नहुपोऽस्मत, 'पुरोऽभिनत्, उप तेऽधाम्,

---

[32] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/40
[33] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/41
[34] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/42
[35] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.43
[36] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.44

'वहतेऽयम्', 'यमोऽदितिः, 'जनुपोऽया, 'सुवितोऽनु तथा 'त्रियोऽधित यहाँ भी अकार अनिभिहित है।

वपुषेऽनु विशोऽयन्त सन्तोऽवधानि खेऽनशः।
मरन्तो ऽवस्यवोऽवोऽस्तु बुध्योऽजो मायिनोऽधमः॥[37]

सूत्रार्थ- 'वपुषेऽनु', 'विशोऽयन्त्र', 'सन्तोऽवद्यानि', 'खेऽनशः', 'भरन्तोऽयस्यवः' 'अयोऽस्तु', 'बुन्योऽज' तथा मायिनोऽधमः, इन सूत्रोक्त द्वैयदों में अकार का संहिता पाठ में अभिनिधान होता है।

देवोऽनयत्पुरूव सोऽसुरघ्नो
भूतोऽभि श्वेतोऽरुषस्तेन नोऽद्य।
येऽजामयस्तेऽरदन्नोऽधिवक्ता
तेऽवर्धन्त तेऽरुणेभिः सदोऽघि[38]**॥**

सूत्रार्थ- देवोऽनयत्', 'पुरूवसोऽसुरघ्नः', भूवोऽभि', 'श्वेतोऽरुषः', 'तेन नोऽद्य', 'येऽजामयः', 'तेऽरदत्', 'नोऽधिवक्ता', 'तेऽवर्धन्त', 'तेऽरुणेभिः' और 'सदोऽधि इन सूत्रोक्त द्वैयदों में अकार का संहिता पाठ में अभिनिधान होता है।

स्वाध्योऽजनयन्धन्वनोऽभिमाती
रनेऽप दद्द मनसोऽधि योऽध्वनः। योऽह्यस्तेऽविन्दस्तपसोऽधि न योऽघि
पादोऽस्य योऽति ब्राह्मणोऽस्य योऽनयत्[39]**॥**

सूत्रार्थ- 'स्वाध्योऽजनयन्', 'धन्वनोऽभिमातीः', 'अग्नेऽप दह', 'मनसोऽधि', 'योऽ ध्वनः', 'योऽहाः', 'तेऽविन्दन्', 'तपसोऽधि', 'न योऽधि', 'पादोऽस्य', 'योऽति', 'मादरणोऽस्य' एवं योऽनयत्' इन सूत्रोक्त द्वैयदों में अकार का संहिता पाठ में अभिनिधान होता है।

सूत्रम्- **सोऽस्माकं यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य**
स्तेभ्योऽकरं पयस्वन्तोऽमृताश्च।।[40]

सूत्रार्थ- सोऽस्माकं यः', द्वेषेभ्योऽन्यकृतेभ्यः', 'तेभ्योऽकरम् और 'पयस्वन्तोऽमृताच इन सूत्रोक्त द्वैयदों में अकार का संहिता पाठ में अभिनिधान होता है।

अभी तक यहाँ पर अभिनिधान का विधान किया गया, सम्प्रति अभिनिधान कार्य को निषिद्ध करने वाले कतिपय सूत्रों का वर्णन प्रस्तुत हैं।

सूत्रम्- अन्योऽवकेऽथो इति नोदयेषु
पुत्रः पराके च परावतश्च।।[41]

सूत्रार्थ- 'पुत्रः', 'पराके' और 'परावतः' के बाद में क्रमशः'अन्य', 'अर्वाके' और 'अथो' पद के अकार को 'अभिनिधान' नही होता, अर्थात् आभिनिहित सन्धि नहीं होती है।

---

[37] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.45
[38] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.46
[39] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.47
[40] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.48
[41] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.49

अन्त:पादं च वयो अन्तरिक्षे
वयो अस्याश्रथयो हेतयस्त्रयः।
वो अन्धसः शयवे अश्विनो ये
श्रवो अधि सार्ज्जयो जामयः पयः।।[42]

सूत्रार्थ- 'बयो अन्तरिक्षे', 'बयो अस्य', 'अश्रथयः', 'द्देतयः', 'त्रयः', 'वो अन्धसः', 'शयवे अश्विना', 'उभये', 'श्रवो अधि', 'सार्जव्यः', 'जामयः' तथा पयः' यहाँ पर स्थित अकार का अभिनिधान नहीं होता।

5.3.6 प्रकृतिभाव सन्धि

प्रकृतिभाव सन्धि में वर्णों की अत्यन्त निकटता होने पर भी अर्थात् संहिता के विषय में भी यथावत् स्थिति रहती है अर्थात् किसी भी प्रकार का कोई वर्ण परिवर्तन नहीं होता है, प्रकृति के समान ही रहता है। यही अवस्था प्रकृतिभाव (अविकृतभाव) सन्धि के रूप में जाना जाती है।

सूत्रम्- **प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः।।**[43]

सूत्रार्थ- इति' शब्द यदि बाद में हो तो 'प्रगृह्य संज्ञक वर्ण 'प्रकृतिभाव सन्धि को प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि यदि इति के इकार पर में रहते पूर्ववर्ती प्रगृह्य स्वर वर्ण के साथ इकार का सन्धि कार्य नहीं होता है।

उदाहरण- छन्दो इति, शतक्रतो इति, यहाँ दोनों स्थानों पर संहिता का विषय है अतः प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण यथावत् स्थिति रहेगी।

सूत्रम्- **स्वरेषु चार्ष्याम्।।**[44]

सूत्रार्थ- आर्षी संहिता (ऋषि द्वारा दृष्ट संहिता) में 'स्वर' परे होने पर भी प्रकृतिभाव सन्धि होती है।

उदाहरण- इन्द्रवायू इमे सुताः यहाँ पर प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण किसी भी प्रकार का वर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।

आर्षी=ऋषिदृष्टा

प्रथमो यथोक्तम्।। [45]

सूत्रार्थ- यह पूर्व सूत्र का अपवाद सूत्र है। प्रथम प्रगृह्य अर्थात् आमन्त्रितज ओकार आर्षी संहिता में प्रकृति भाव को प्राप्त नहीं करता है। जैसा कि भाष्य में उल्लेख है[46]

क. प्रथमः प्रगृह्य आध्यां संहितायां यथोक्तम् एव भवति कश्च प्रथमः? "ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः।

उदाहरण- इन्वविन्द्राय मत्सरम्, "वाय उक्येभिर्जरन्ते, अत्रा चिन्नो मयो पितोत्रम्, वैदिक मंत्रों में आर्षी संहिता में स्वर परे होने पर भी प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

---

[42] ऋग्वेद प्रा.पटल 2.50
[43] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/51
[44] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/52
[45] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/53
[46] उ0 भा.

सूत्रम्- **सहोदयास्ताः प्रगृहीतपदाः सर्वत्रैव।।**[47]

सूत्रार्थ- परवर्ती स्वर' वर्णो के साथ जो संहिताएं हैं, सर्वत्र अर्थात् पद-पाठ में और संहिता-पाठ में 'प्रगृहीतपद' के नाम से कहलाती हैं।

सर्वत्र शब्द की व्याख्या करते हुए भाप्यकार लिखते हैं- **सर्वत्रैव पदसंहितायामितिकरणादौ परभूते स्वरेषु चार्ष्यामुदयेषु प्रगृहीतपदा एव।**

उदाहरण- इन्दो इति, शतक्रतो इति शतऋतो, इन्द्राग्नी इति।[48]

सूत्रम्- **त्र्यक्षरान्तास्तु नेवे।।**[49]

तीन अक्षरों वाले स्वरवर्णों क पदों के अन्त में आने वाले 'प्रगृह्य' 'स्वर' वर्ण आर्षी संहिता में 'प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं करते। आपितु इव' के इकार के साथ सन्धि कार्य को सम्पादित करते हैं।

उदाहरण- दम्पतीव ऋतुविदा।

सूत्रम्- **आर्ष्यामेव सन्ध्ययकारपूर्वी**

विवृत्तेश्च प्रत्ययः सन्नुकारः।। [50]

सूत्रार्थ- सन्ध्य यकार है पूर्व में जिसके ऐसा उकार और विवृत्ति से परे आने वाला उकार आर्षी संहिता में ही 'प्रकृतिभाव' हो जाता है। अभिप्राय यह है कि सन्धि में उत्पन्न यकार के बाद यदि उकार आता है तो वह प्रकृतिभाव को प्राप्त होता है।

उदाहरण- प्रत्यु अदर्श्या यती।। यहाँ सन्ध्य यकार के उत्तर वर्ती उकार को स्वर परे होने पर भी सन्धि न होकर प्रकृतिभाव हो गया।

सन्ध्य यकार:=सन्धि में उत्पन्न यकार

सूत्रम्- **ऊकारादौ स्विति।।**[51]

सूत्रार्थ- -ऊकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में हो 'स् को प्रकृतिभाव' से रहता है।

उदाहरण- ताभिरु षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।

ऊकारादौ= ऊकार से प्रारम्भ होने वाला

सूत्रम्- **पूषेत्यकारे न चेत्तदेकाक्षरतत्रपूर्वम्।।**[52]

सूत्रार्थ - अकार परे में हो तो 'पूषा पद प्रकृतिभाव' से रहता है। यदि उस पूषा' पद के पूर्व में एक 'अक्षर' वाला प तथा'तत्र' पद नहीं होने पर।

उदाहरण- पूषा अविष्टु माहिनः।

सूत्रम्- **श्रद्धा सम्राज्ञी सुशमो स्वधोती**

पृथुजयी पृथिवीषा मनीषा।

---

[47] ऋग्वेद प्रातिशाख्य पटल 2/54

[48] उ. भाष्य 2/54

[49] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/55

[50] ऋग्वेद प्रा.पटल 2/56

[51] 2/57 ऋग्वेद प्रा.

[52] 2/58 ऋग्वेद प्रा.

अया निद्रा ज्या प्रपेति स्वराणां

मुख्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्च॥2/56॥

सूत्रार्थ- 'स्वर' वर्णों के मध्य में मुख्य अकार, एवं इकार, तथा ईकार बाद में हो तो श्रद्धा, सम्राज्ञी, सुशर्मा, स्वधोती, पृथुजयी, पृथिवीषा, मनीषा, अया, निद्रा, ज्या, प्रपा यह शब्द प्रकृतिभाव से रहते हैं।

उदाहरण- श्रद्धा वा इते मघवन्पायें दिवि॥

सूत्रम्- **स्वरे पादादा उदये सचेति॥**[53]

सूत्रार्थ- पाद के आदि में विद्यमान 'स्वर' वर्ण परे हो तो 'सचा' प्रकृतिभाव होता है।

सूत्रम्- **ष्वन्तं जोषं चर्षणोश्चर्षणिभ्यः।**

एकारान्तं मित्रयोरस्मदीवन्

नमस्युरित्युपधं चेत्यपृक्तम्॥[54]

सूत्रार्थ- - यदि पाद के आदि में स्थित स्वर' वर्ण बाद में हो तो ष्वन्त = षु में अन्त होने वाले पद 'जोषम्', 'चर्षणी:', 'चर्षणिभ्यः' एकारान्त' पद, 'मित्रयो:, 'अस्मत्', 'ईवत्' और 'नमस्यु:'ये पूर्व में स्थित हों तो अपृक्त आकार को प्रकृतिभाव' होता है।

सूत्रम्- **एकारौकारपरी च कण्ठ्यौ लुशादर्वाक्॥**[55]

सूत्रार्थ- लुश ऋषि के सूक्तों से पूर्व वर्ती सूक्तों एकार या ओकार परे हो तो पूर्व स्थित अकार और आकार भी प्रकृतिभाव' को प्राप्त करते हैं।

सूत्रम्- **गोतमे चामिनन्त॥**[56]

सूत्रार्थ- (गोतम ऋषि के सूक्तों) में 'अमिनन्त' पद प्रकृति भाव' से रहता है।

सूत्रम्- **परुच्छेपे भीपा पथेत्यकारे॥** [57]

सूत्रार्थ- अकार बाद में हो तो 'भीषा, पथा' प्रकृतिभाव' से रहते हैं,परुच्छेप ऋषि के सूक्तो में।

सूत्रम्- **एवाँ अग्निमत्रिषु सा प्लुतोपधा॥**[58]

सूत्रार्थ- अत्रि ऋषि के सूक्तो में प्राप्त एव अग्निम् द्वैपद प्लुतोपध संज्ञक होता है।

5.3.7 वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्रकृतिभाव विधान

काध्रुवोतिसदन होताराज्यास्वधापृथिवीप्रतिमेमसद
न्नश्यामाकर्मोर्ध्वमियमवस्तादुतास्तिषु॥ [59]

ईम् असदन्, अश्याम्, अकर्म, उद्धर्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत और अस्ति पद बाद में आने पर

[53] 2/60 ऋग्वेद प्रा.
[54] 2/ 61 ऋग्वेद प्रा.
[55] 2/62 ऋग्वेद प्रा.
[56] 2/ 63
[57] 2/65
[58] 2.66
[59] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/87

क्रमशः ध्रुवाऊती, सदना होतारां, ज्या, स्वधा, पृथिवी एवं प्रतिभा ये पद प्रकृतिभाव को प्राप्त करते है।

प्रगृह्यँ स्वरे[60]**।।**

स्वर वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती प्रगृह्य पद प्रकृतिभाव को प्राप्त करते हैं।

ओकाश्च[61]**॥**

इति' पद बाद में आने पर पूर्वपदान्तीय ओकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता हैं।

ऊकारोऽपृक्तोऽस्पर्शात्[62]

स्पर्श भिन्न वर्ण से परवर्ती प्रगृहय अपृक्त उकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता हैं।

विश्पतीवोपतिष्ठते[63]

इव' पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती विश्पती पद उपस्थित पाठ में ही प्रकृतिभाव को प्राप्त करता है।

प्लुतमितौ।।[64]

इति' पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती (प्लुत स्वर) प्रकृतिभाव से रहता है।

सूत्रम्- **सचादयो या विहिता विवृत्तयः।**

प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः॥[65]

सूत्रार्थ- जो 'सचा' से लेकर 'प्लुतोपधा तक विहित विवृत्तियां का है उनकी उपधा अनुनासिक' हो जाती है।

उपधा= अलों में जो अन्तिम अल् अससे पूकवर्ती स्वर वर्ण उपधा कहलाता है।

सम्प्रति निपातन के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं।

सेदु सास्मिन्सेमभि साभिवेगः

सेहभवः सोपमा सौषधीरनु।

सास्मा अरं सोत नः सेन्द्र विश्वा

सेति सास्माकमनवद्य सासि।।[66]

- सेदु', 'सास्मिन्', 'सेमभि', 'साभिवेगः', 'सेहभवः', 'सोपमा', 'सौषधीरनु', 'सास्मा अरम्', 'सोत नः', 'सेन्द्र विश्वा, सेति', 'सास्माकमनवद्य', सासि' इन पदों में सन्धि कार्य निपातन से सिद्ध होता हैं।

सेदग्ने सेदग्निर्वासिष्ठं सास्माकेभिः सेदुग्रः सेमे।
सैना सैनं सेमं सोदञ्चं सेमां सोषां सेपे सेदीषे।।2/69।।

'सेदग्ने', वसिष्ठ के सूक्तों में 'सेदग्निः, सास्माकेभि', 'सेदुग्रः', 'सेमे', 'सैना', 'सैनम्' 'सेमम्',

[60] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/88

[61] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/93

[62] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/91

[63] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/90

[64] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/92

[65] 2/67

[66] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 2/68

'सोदश्ञ्चम्' 'सेमाम्' 'सोपाम्' 'सेपे' और 'सेदीपे' इन पदों में सन्धि कार्य निपातन से सिद्ध होता हैं।

नू इत्था ते सानो अव्ये
वा अस्मे वासौ वेद्यस्याम्।
घिष्ण्येमे नू अन्यत्रा चित्
पादादौ नू इन्द्रोत्यर्वाक्।।[67]

नू इत्था ते', 'सानो अव्ये', 'वो अस्मे', 'वासौ', 'वेद्यस्याम्', 'धिष्ण्येमे', 'नू अन्यत्रा चित्', पाद के आदि में 'नू इन्द्र तथा'ऊत्यर्वाक'इन पदों में सन्धि कार्य निपातन से सिद्ध होता हैं।

उद् अयाजेषितं धनचं
शतर्चसं दशोणये दशोण्ये।
यथोहिषे यथोचिषे दशोणि
स्वरोदयं पिवा इमं रथोळह।।[68]

सउद् अयान्', 'रजेषितम्', 'धनर्चम्', 'शवर्चसम्', 'दशोणये', 'दशोण्ये', 'यथोहिषे', 'यथोचिषे', 'दशोणिम्' 'स्वर' वर्ण परे होने पर 'पिबा इमम्' और 'रथोळह' इन पदों में सन्धि कार्य निपातन से सिद्ध होता है।

वीरास एतन तमू श्रकृण्वँ
स्ततारेव प्रैषयू रोदसी मे
धन्वर्णसः सरपसः सचोत
प्रधीव वीळू उत सर्वबाजौ।।2/72।।

'वीरास एतन', 'तमू अकृण्वन्', 'ततारेव', 'प्रैषयुः', रोदसीमे', 'धन्वर्णसः', 'सरपसः', सचोत', 'प्रधीव', 'बीळू उत' (और) 'सर्तवाजी' ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।

अश्विनेव पीवोपवसनानां
महो आदित्याँ उपसामिवेतयः
स्तोतव अम्व्यं च सृजा इयध्यै
सचेन्द्र सानो अव्यये स्वधामिता।।[69]

'अश्विनेव', 'पोवोपवसनानाम्', 'महो आदित्यान', 'उपसामिवेतयः', 'स्तोतव अम्ब्यम्', 'सृजा इयध्यै', 'सचेन्द्र', 'सानो अव्यये' और स्वधामिता' ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।

गोओपशागोऋजीकप्रवादी
मनीषा आ त्वा पृथिवी उत द्यौः।
मनीषावस्यू रणया इहाव
बृहतीइवेति च यथागृहीतम्।।[70]

---

[67] 2/70
[68] 2/ 71
[69] 2/73 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

गोओपशा', 'गोऋजीक' –किसी भी लिङ्ग और कारक में, 'मनीषा आ त्वा', 'पृथिवी उत द्यौः', 'मनीषावस्युः', 'रणया ह', 'आव तथा 'बृहती इव' ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।

योनिमारैगगादारैग्दुर्योण आवृणक्।
हन्त्यासद्रुप आरुपितमनायुघास आसता।।[71]

'योनिमारैक्', 'अगादारैक्', 'आरैक्', दुर्योण आवृणकू', 'हन्त्यासत्', 'रुप आरुपितम्' और 'अनायुधास आसता' ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।

अस्त्वासतो निराविध्यदभ्यादेवं क आसतः।
न्यावृणङ् नकिरादेवो न्याविध्यदेनमायुनक्।।[72]

अस्त्वासतः', 'निराविध्यत्', 'अभ्यादेवम्', 'क आसतः', 'न्यावृणक्', 'नकिरादेवः', 'न्याविध्यत्'

ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।

अहिचारिणक्पथ आयुक्षातामुदावता।
रिक्थमारैग्य आयुक्त कुरु श्रवणमावृणि।।[73]

'अहिहन्नारिणक्पथः', 'आयु क्षाताम्', 'उदावता', रिक्थमारैक', 'य आयुक्त' और 'कुरुश्रवणमावृणि' ये सूत्रोक्त द्वैपद निपातन से सिद्ध हैं।
उ. भा.- एतानि च पदानि यथागृहीतानि भवन्ति।

5.3.8 अनानुपूर्व्यसंहिता वर्णन

शुनश्चिच्छेपं निदितं नरा वा शंसं पूषणम्।
नरा च शंसं दैव्यं ता अनानुपूर्व्यं संहिताः।।[74]

"शुनश्चिच्छेप निदितम्", "नरा वा शंसं पूषणम्" और नरा च शंसं दैव्यम्" - ऋग्वेद में ये तीन ऐसे स्थल हैं जहाँ पद-पाठ के क्रम से 'संहिता' नहीं है।

5.3.9 द्विषंधि विवृत्ति वर्णन

द्विपंघयस्तूभयतःस्वरस्वराः।।[75]

वे विवृत्तियाँ जहाँ मध्यवर्ती स्वर के दोनों ओर 'स्वर हों वे 'द्विषंधि' विवृत्तियाँ कहलाती हैं।

द्विषंधि= दो सन्धियाँ है जिन विवृत्तियों की।

प्राच्यपञ्चाल उपघानिभोदयाः शाकल्यस्य स्थविरस्य।।[76]

---

[70] 2/74 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[71] 2.75 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[72] 2/76 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[73] 2/77 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[74] 2/78 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[75] 2/80 ऋग्वेद प्रातिशाख्य
[76] 2/81 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

वृद्ध शाकल्य के अनुसार प्राच्यपञ्चाल पदवृत्तियों के पूर्ववत् 'स्वर' उपधा के सदृश ही उनके परवर्ती 'स्वर' वर्ण उच्चारित होते हैं।

इतरा स्थितिः।।[77]

- शाकल की भिन्न स्थिति है, ये परवर्ती अकार का अविकृत उच्चारण करते हैं।

उदाहरण- आङ्गिरसो जुद्दे बाजे अस्मिन्।

5.4 अवशंगम आस्थापित सन्धि

स्पर्शाः पूर्वे व्यन्जनान्युत्तरा

ण्यास्थापितानामवशंगमं तत्।।[78]

'स्पर्श वर्ण पदान्त में हों तथा 'व्यञ्जन' परवर्ती पदादि हो तो 'अवशंगम' सन्धि कहलाती है। यहाँ उव्वट भाष्य द्रष्टव्य है-

स्पर्शाः पूर्वे, सर्वाण्येव व्यञ्जनान्युत्तराणि आस्थापितानां संधीनां मध्ये अवशंगर्म नाम तत् संघानं वेदितव्यम्। यत्र द्वयोर्व्यञजनयोरविकार: स अवशंगम सन्धि:।

चार प्रकार की सन्धियों अनुलोम अन्वक्षर और प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धियों का वर्णन हो चुका है। अब क्रम प्राप्त व्यञ्जन सन्धि का अध्ययन करेंगे।

पदान्त और पदादि में व्यञ्जन वर्णो मध्य संहिता का विषय बनने पर जायमान सन्धि व्यञ्जन सन्धि कहलाती है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में अवशंगम सन्धि, वशंगम, परिपन्न, विसर्जनीय, नकारविकार, आगम, लोप, आदि सन्धियों को व्यञ्जन सन्धि की कोटि में रखा गया है।

'स्पर्श वर्ण पदान्तमें हों तथा 'व्यञ्जन' परवर्ती पदादि हो तो 'अवशंगम' सन्धि कहलाती है।

स्पर्श पूर्व में एवं व्यञ्जन बाद में होने पर अवशंगम सन्धि होती है। अर्थात् स्पर्श पदान्त और व्यञ्जन पदादि होने पर वह अवशंगम सन्धि होती है। इस सन्धि में स्पर्श और व्यञ्जन पास-पास आ जाते हैं, किन्तु कोई विकार नहीं होता है। वंशगम सन्धि में सम्बद्ध वर्णो में से किसी न किसी में विकार अवश्य होता है। इसलिए भाष्यकार उव्वट का कथन है कि इन सन्धियों में व्यञ्जन बिना किसी विकार के संयुक्त नहीं होते हैं।[79]

यहाँ पर उव्वट भाष्य द्रष्टव्य है-

स्पर्शाः पूर्वे, सर्वाण्येव व्यञ्जनान्युत्तराणि आस्थापितानां संधीनां मध्ये अवशंगर्म नाम तत् संघानं वेदितव्यम्। यत्र द्वयोर्व्यञजनयोरविकार: स अवशंगम सन्धि:।[80]

5.5 वशंगम आस्थापित सन्धि:

घोपवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान्।।[81]

---

[77] 2.82 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[78] 4/ 1 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[79] ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों तुलनात्मक अध्ययन पाणिनि शिक्षा के सन्दर्भ में

[80] उव्वटभाष्य

[81] ऋग्वेद प्रातिशाख्य

'सघोष व्यञ्जन बाद में हो तो सभी वर्गों के प्रथम स्पर्श' अपने वर्ग के तृतीय स्पर्श हो जाते हैं।

उत्तमानुत्तमेषूदयेषु।।[82]

अन्तिम उत्तम स्पर्श बाद में हो तो वर्ग के प्रथम 'स्पर्श' अपने अन्तिम उत्तम स्पर्श हो जाते है।

सर्वैः प्रथमैरुपचीयमानः

शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्।।[83]

शाकल्य के पिता के मत से सभी प्रथम 'स्पर्श' (वर्णों) से बाद में आने वाला शकार छकार हो जाता है।

पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतै

स्तेषां चतुर्थानुदयो इकारः॥[84]

शाकल्य के पिता के मत से पद के अन्त में विद्यमान तथा अपने तृतीय स्पर्श' वर्णों में परिणत उन्हीं वर्ग' के प्रथम 'स्पर्श वर्णो से उपहित बाद में आने वाला परवर्ती पदादि हकार उन वर्ग के प्रथम स्पर्श वर्णों का चतुर्थ स्पर्श हो जाता है।

अन्तस्थासु रेफवर्ज परासु
तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु।[85]

पद के आदि में विद्यमान रेफव्यतिरिक्त अन्तःस्थ बाद में होने पर मकार उस-उस अनुनासिक 'अन्तःस्था' में परिणत हो जाता है।

5.5.1 परिपन्त सन्धि

परिपन्त सन्धि के विषय में उल्लेख किया गया है कि रेफ अथवा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है। वस्तुतः परिपन्त शब्द परि' उपसर्ग पूर्वक पत् धातु से निष्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ है चारों ओर से गिरना अर्थात् पूर्णरूपेण विनाश तात्पर्य यह है कि रेफ या ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार गिर जाता है और उसके स्थान पर अनुस्वार आ जाता है। यथा वसुं सूनुं सहसः। यहाँ वसुम और सुनुम् के मकार नष्ट हो गये हैं।

तथा नकार उदये लकारे[86]**॥**

उसी प्रकार उकार बाद में हो तो नकार अनुनासिक लकार हो जाता है।

ञकारं शकारचकारवर्गयोः[87]**॥**

शकार और चवर्ग का कोई वर्ग बाद में हो नकार सकार हो जाता है।

तकारो जकारलकारयोस्तौ।।[88]

---

[82] 4/3 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[83] 4/4 ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[84] ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[85] ऋ. प्रा. 4/7

[86] ऋ. प्रा. 4/8

[87] ऋ. प्रा. 4/9

[88] 4/10

जकार और लकार बाद में हों तो तकार उन दोनों में परिणत हो जाता है।

तालव्येऽघोष उदये चकारम्।।[89]

अघोष तालव्य बाद में हो तो तकार के स्थान पर चकार हो जाता है।

छकारं तयोरुदयः शकारः।।12||

नकार के स्थान पर आए हुए ञकार तथा तकार के स्थान पर आए हुए चकार के बाद में विद्यमान शकार छकार हो जाता है।

5.5.2 परिपन्न (वशंगम) सन्धि

> **रेफोष्मणोरुदययोर्म कारोऽ**
> **नुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः ॥**[90]

रेफ और 'ऊष्म' वर्ण बाद में हों तो मकार अनुस्वार हो जाता है। इस सन्धि को 'परिपन्न' कहते हैं।

उदाहरण- होतारं रत्नधातमम्; त्वां ह त्यदिन्द्राणसातौ, इन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्, वसुं सूनुं सहसः।

उक्तं भाष्ये- **रेफे चोष्मणि चोदयभूते; मकारोऽनुस्वारम् आपद्यते। तत् संघानं परिपन्नमाहुः आचार्याः। वशंगमस्यैव द्वितीया संज्ञा कार्यार्था कृता।**[91]

परिपन्न' सन्धि 'वशंगम' सन्धि ही है किन्तु कार्यवश उसकी यह दूसरी संज्ञा कर दी गई है। परिपन्न सन्धि के विषय में उल्लेख किया गया है कि रेफ अथवा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है। वस्तुतः परिपन्न शब्द परि' उपसर्ग पूर्वक पत् धातु से निष्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ है चारों ओर से गिरना अर्थात् पूर्णरूपेण विनाश तात्पर्य यह है कि रेफ या ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार गिर जाता है और उसके स्थान पर अनुस्वार आ जाता है। यथा वसुं सूनुं सहसः। यहाँ वसुम और सुनुम् के मकार नष्ट हो गये हैं और उनके स्थान पर अनुस्वार हो गए हैं।[92]

5.6 विसर्जनीय सन्धि

वैदिक सन्धियों में विसर्जनीय सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है आ ऊष्म-वर्णो में केवल विसर्जनीय पद के अन्त में आ सकता है। यह वर्ण सर्वदा ही पद के अन्त में आता है। विसर्जनीय परिस्थिति के अनुसार कभी-कभी र- श्, ष, स्, क, इन वर्णो में परिणत हो जाता है और कभी-कभी लुप्त हो जाता है। विसर्जनीय सन्धि के प्रसंग में रिफित और अरिफि इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोनों प्रतिशाख्यों में किया गया है। इनकी विशेषता यह है कि रिफित विसर्जनीय का मूल रेफ होता है, किन्तु रेफ पद के अन्त में नहीं आ सकता है। इसलिए वह विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। अरिफित विसर्जनीय का मूल रेफ न होकर सकार होता है। किन्तु रेफ की भाँति सकार

89

90 ऋ. प्रा. 4/15

91 उ.भा. 4/15

92 ऋग्वेद प्रातिशाख्य, वीरेन्द्र कुमार वर्मा

भी पद के अन्त में नहीं आ सकता, वह भी विसर्जनीय में परिणत हो जाता है।

स्वरों तथा सद्योष व्यंजनों के पूर्व में आने पर रिफित विसर्जनीय रेफ में परिणत हो जाता है, किन्तु अरिफित विसर्जनीय कभी भी रेफ में परिणत नहीं होता है।

रिफित संज्ञक पदों के रिफित विसर्जनीय के आगे पद पाठ में इति शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह इति शब्द रिफित विसर्जनीय के रिफित स्वरूप को बतलाने के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यह 'इति' शब्द केवल वहीं प्रयुक्त होता है, जहाँ संहिता पाठ में रिफित विसर्जनीय के रूप में रहता है। इसके विपरीत जहाँ संहिता पाठ में रिफित विसर्जनीय न होकर रेफ होता है, वहां विसर्जनीय का स्वरूप स्पष्ट होने से पद पाठ में इति शब्द नहीं लगाया जाता है।[93]

5.6.1 विसर्जनीय का रेफ

सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो
रेफं रेफी ते पुना रेफसंघयः।।[94]

स्वर या 'सघोष' 'व्यञ्जन' बाद में हो तो सभी उपधाओं वाला 'रिफित' विसर्जनीय रेफ हो जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विसर्जनीय सन्धि के नौ भेद वर्णित हैं-

5.5.2 नियत सन्धि

विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः।।[95]

इसका विधान करते हुए कहा गया है कि सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर अरिफित विसर्जनीय आकार हो जाता है। यथा- पुनानाः। यन्ति। यहाँ पुनानाः का अरिफित विसर्जनीय अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित आकार हो गया है।

5.6.3 प्रश्रित सन्धि

ओकारं ह्रस्वपूर्वः।।[96]

हस्व स्वर है पूर्व में जिसके वह अरिफित विसर्जनीय ओकार हो जाता है।

द्विरुदात्तानि।।[97]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ओकार भाव के विषय में कहा गया है कि 'सिञ्च' पद बाद होने पर हतः पद का विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है तथा उत्तरवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण हो जाता है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में उल्लेख है कि धि संज्ञक व्यञ्जन वर्ण बाद में होने पर परवर्ती सोपध अरिफित विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है।

5.6.4 रेफ सन्धि

[93] ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन नेत्रा श्रीवास्तव

[94] ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[95] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/24

[96] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/25

[97] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 9/46

सर्वोपघस्तु स्वरघोपवत्परो
रेफं रेफी ते पुना रेफसंघयः॥[98]

रेफ सन्धि का विधान ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार स्वर या सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर किसी भी प्रकार के स्वर के बाद में स्थित रिफित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी इस सन्धि का विधान करते हुए कहा गया है कि पति शब्द से परे रहने पर 'अह' पद का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

5.6.5 व्यापन्न सन्धि

व्यापन्न ऊष्मसन्धि स विक्रान्तः प्राकृतोपधः[99]

व्यापन्न शब्द 'वि' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'पद' धातु से क्त प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है किसी अन्य ध्वनि में परिवर्तित किया हुआ। प्रस्तुत सन्धि में विसर्जनीय ऊष्म वर्णों में परिवर्तित हो जाता है। अतः इस सन्धि को व्यापन्न सन्धि कहते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में इसके दो भेदों का विधान किया गया है।

5.6.6 विक्रान्त सन्धि

व्यापन्न ऊष्मसन्धि स विक्रान्तः प्राकृतोपधः[100] **4/35**

जहाँ विसर्जनीय ज्यों का त्यों रहता है वह विक्रान्त सन्धि है। यह सन्धि दो प्रकार की है। यथा -

प्रथम ऊष्म वर्ण नहीं है बाद में जिसके ऐसा कवर्ग अथवा पवर्ग का कोई अघोष स्पर्श बाद में होने पर पदान्त विसर्जनीय पदादि अघोष स्पर्श के समान स्थान वाले ऊष्म वर्ण में विकल्प से परिणत होता है।

द्वितीय विसर्जनीय के बाद में ऐसा अघोष ऊष्म वर्ण हो जो दन्त्य के स्थान पर नहीं आया है तो विसर्जनीय विकल्प से ऊष्म वर्ण में परिणत होता है।

5.6.7 अन्वक्षरवक्त्र सन्धि

ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि[101] 4/36

अन्वक्षरवक्त्र सन्धि में विसर्जनीय के बाद में व्यञ्जन (ऊष्म-वर्ण) होता है और बाद में अघोष व्यञ्जन होता है। इस प्रकार अन्वक्षरवक्त्र सन्धि का प्रारम्भ का अंश अन्वक्षर सन्धि के समान है। दोनों ही सन्धियों में विसर्जनीय के बाद में व्यञ्जन होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अन्वक्षर सन्धि में विसर्जनीय का लोप होता है, उसी प्रकार अन्वक्षरवकत्र सन्धि में भी विसर्जनीय का लोप होता है। किन्तु यह लोप इस सन्धि के प्रारम्भ वाले अंश में ही होता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में उल्लेख है कि अघोष व्यञ्जन है बाद में जिसके ऐसा नत भी ऊष्ण वर्ण बाद में होने पर पदान्त विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।

---

[98] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/27
[99] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/35
[100] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/35
[101] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/36

5.6.8 उपाचरित सन्धि

विसर्जनीय का सकार होना उपाचरित सन्धि है। दोनों प्रातिशाख्यों में विसर्जनीय के सकारभाव का विधान किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में इस उपाचरित सन्धि को दो भागों में विभक्त किया गया है

क. पद के मध्य में होने वाली उपाचरित सन्धि।

ख. दो पदों के मध्य में होने वाली उपाचरित सन्धि।

5.6.9 नकार के विकार

नकार परिवर्तनशील वर्ण होने के कारण अनेक रूपों को धारण कर लेता है। मुख्य रूप से नकार का लोप रेफ में परिणति एवं ऊष्म वर्ण के समान कार्य का विधान होता है।

आगम :- व्यञ्जन सन्धि के अन्तर्गत 'आगम' का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। साधारणतः आगम शब्द का अर्थ है अतिरिक्त वर्ण का आ जाना। आगम सन्धि स्थल में बिना कोई परिवर्तन किए होता है। वैयाकरण 'आगम' को मित्रवत मानते है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में आगम को व्यवधान कहा गया है।' क्योंकि दो पदों या वर्णों के मध्य में आया हुआ वर्ण पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वर्ण के बीच व्यवधान का कार्य करता है।

5.6.10 रेफ का आगम

वनेति रेफः सदशब्द उत्तरे॥4/86[102]

'वन' इस पूर्व पद के बाद में 'सद' शब्द होने पर दोनों के बीच में रेफ का आगम होता है। यथा तिष्ठत् रथं नः। वेद' शब्द पूर्व में नहीं है ऐसे वन इस पूर्वपद और सद इस उत्तर पद के मध्य में रेफ का आगम होता है।

5.6.11 शकार का आगम

पुरु पृथ्वधि पूर्वेषु शकार उपजायते।
ह्रस्वे च पूर्वपद्यान्ते चन्द्रशब्दे परेऽन्तरा॥[103] **4/84**

पुरू, पृथु या अधि शब्द पूर्व में और चन्द्र शब्द बाद में होने पर दोनों के बीच में शकार का आगम होता है। समास के पूर्व पद्य का अन्तिम स्वर यदि हस्व हो तब भी चन्द्र शब्द बाद में होने पर बीच में शकार का आगम हो जाता है।[104]

सु शब्द पूर्व में रहे तथा चन्द्र शब्द बाद में रहे तो दोनों के मध्य में शकार का आगम होता है। इस प्रकार शकार के आगम का विधान किया गया है वाजसनेयि प्रातिशाख्य में।

5.6.12 षकार का आगम

परीति पद्ये कृपरे षकारे॥4/85 [105]

---

[102] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/86

[103] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/84

[104] ऋग्वेद प्रातिशाख्य

[105] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 4/85

'परि' पद्य के बाद में 'कृ' होने पर दोनों के बीच में षकार का आगम होता है। यथा- परिकृण्वन्। अनिःकृतम् = परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्।

5.6.13 सकार का आगम

विशेषा 3 इति चानुदात्तम्।।3/52 [106]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में विधान किया गया है कि 'वन शब्द पूर्व में होने तथा पति शब्द बाद में होने पर दोनों के मध्य में सकार का आगम होता है। यथा- वनस्पतिः ऋत शब्द पूर्व में हो तथा पति शब्द बाद में होने पर एवं 'अवर' शब्द पूर्व में तथा 'पर' शब्द बाद में होने पर सकारागम होता है और तत् और बृहत् शब्द पूर्व में तथा क्रमश: 'कर' और 'पति' शब्द बाद में होने पर मध्य में सकार का आगम होता है।

5.6.14 ककार एवं तकार का आगम

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार डकार के परे अघोष 'ऊष्मन होने पर दोनों के मध्य में ककार का आगम होता है और तकार एवं नकार के बाद में सकार होने पर दोनों के मध्य में तकार का आगम होता है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार सकार बाद में होने पर डकार और नकार के मध्य में क्रमशः ककार व तकार का आगम होता है। यथा प्राङ्। सोमः।

5.6.15 चकार का आगम

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विधान किया गया है कि अकार के बाद में शकार होने पर दोनों के मध्य में चकार का आगम होता है। और वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार स्वर पूर्व में होने पर तथा धकार बाद में होने पर दोनों के मध्य में सर्वच चकार का आगम होता है। यथा- अ छ, अच्छ (प0पा0) = अच्छा वदामसि।

न दाल्भ्यस्य[107] 4/16

ककार, तकार एवं चकार आगम का अपवाद को भी अंकित किया गया है। इसके अनुसार सकार शब्द बाद में होने पर और ङ, न वर्ण पूर्ववर्ती होने पर दोनों के मध्य में ककार और तकार का आगम नहीं होता है। तथा छकार बाद में होने पर एवं पूर्ववर्ती यस्य, अतिहाय और सह पद होने पर चकार का आगम नहीं होता है।

यथा यस्य छाया= यस्यछाया

5.6.16 नति सन्धि

'नति' का शाब्दिक अर्थ है 'झुकना उच्चारण सौकर्य की दृष्टि से पूर्ववर्ती नामि स्वर के प्रभाव से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण की ओर झुक जाता है अर्थात् दन्त्य-वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य-वर्ण हो जाता है। अतः इसे नति' कहते हैं, क्योकि प्रमुख उच्चारणावयव जिह्वा जो दन्त्य वर्णों के उच्चारण में सीधी रहती है, उसे मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण करने के लिए मोड़कर पीछे की ओर झुका दिया जाता है।

---

[106] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/52

[107] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 4/16

5.6.17 सकार का मूर्धन्यभाव

ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य में सकार को मूर्धन्यभाव की भी विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है-

- एक ही पद में वर्तमान भावि (अ आ व्यतिरिक्त) स्वर वर्ण बाद में स्थित सकार को षकार हो जाता है।[108]
- भावि अर्थात अ, आ, भिन्न स्वर से पश्चादद्वर्ती समानपदीय सकार अनुस्वार से व्यवहित होने पर भी षकार हो जाता है।[109]
- क् एवं रेफ से परववर्ती होने पर समानपदीय सकार षकार हो जाता है।[110]
- नि के पश्चात् सदित पद का सकार षकार हो जाता है।[111]
- नि से पयचात् ससाद पद का सकार षकार हो जाता है।[112]

सन्ध्य ऊष्माप्यनिङ्ग्ये। 5/41[113]

दो अक्षरों वाले ही पद से बाद में आने वाले 'सत् और स्थः का सकार षकार हो जाता है।

5.6.18 सामवश सन्धि

सामवशा इति चैवापवादान्[114]

सामवश का शाब्दिक अर्थ है- छन्दों के साम्य के निष्पन्न दीर्घता। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट का कथन है कि छन्दो का समत्व है प्रयोजन जिन अन्वक्षर सन्धियों का वे सामवश सन्धियाँ कहलाती हैं।[115]

5.7 सारांश

- सन्धानमिति सन्धिः सम् उपसर्ग पूर्वक धा धातु से किः प्रत्यय करने पर सन्धि शब्द उत्पन्न होता है।
- वर्णों की अतिशय सन्निधि संहिता कहलाती है।
- एषः स्य स और स्वर वर्ण पूर्व में होने पर तथा व्यञ्जन वर्ण पर (बाद) में हो तो अनुलोम अन्वक्षर सन्धियाँ होती है।
- यदि व्यञ्जन वर्ण पूर्व में हो और स्वर वर्ण पर मे होने पर अर्थात् विपर्यय होने पर प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि होती है।
- परिपन्त सन्धि - रेफ अथवा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है।

---

[108] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/84
[109] वाजसनेयि प्रातिशाख्य 3/85
[110] वाजसनेयि प्रातिशाख्य ,3/85
[111] वाजसनेयि प्रातिशाख्य ,3/86
[112] वाजसनेयि प्रातिशाख्य ,3/87
[113] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 5/85
[114] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 1/60
[115] ऋग्वेद प्रातिशाख्य 1/60

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विसर्जनीय सन्धि के नौ भेद वर्णित हैं
- वैदिक सन्धियों में विसर्जनीय सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है आ ऊष्म-वर्णों में केवल विसर्जनीय पद के अन्त में आ सकता है। यह वर्ण सर्वदा ही पद के अन्त में आता है। विसर्जनीय परिस्थिति के अनुसार कभी-कभी र- शु, ष, सु, क, इन वर्णों में परिणत हो जाता है और कभी-कभी लुप्त हो जाता है। विसर्जनीय सन्धि के प्रसंग में रिफित और अरिफि इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोनों प्रतिशाख्यों में किया गया है। इनकी विशेषता यह है कि रिफित विसर्जनीय का मूल रेफ होता है, किन्तु रेफ पद के अन्त में नहीं आ सकता है। इसलिए वह विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। अरिफित विसर्जनीय का मूल रेफ न होकर सकार होता है।

5.8 शब्दावली

विवृति = व्यवधान

सन्ध्य यकार: = सन्धि उत्पन्न यकार

तन्निभा: = तादृशा:

आर्षी: = ऋषि से सम्बन्धित

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद प्रातिशाख्य उव्वट भाष्य सहित - (व्याख्या.) वीरेन्द्र कुमार वर्मा
- वाजसनेयिप्रातिशाख्यम् - (सम्पा.) वि. वेंकटराम शर्मा
- पाणिनिव्याकरणसूत्राष्टाध्यायी - चौखम्बा प्रकाशन
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी - (हिन्दी व्याख्या.) गोपालदत्तपांडेय
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर ऋषि
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गौरेला
- संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन
- ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - (शोधकर्ता) नेत्रा श्रीवास्तव
- व्याकरण महाभाष्यम्

5.10 बोध प्रश्न

1. संहिता किसे कहते हैं? विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
2. क्षैप्र सन्धि किसका भेद है ? स्पष्ट कीजिए।
3. संहिता की मूल प्रकृति क्या है?
4. प्रश्लिष्ट सन्धि के कितने भेद हैं? विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
5. प्रश्लिष्ट को पाणिनि व्याकरण में किस नाम से जाना जाता है ?